प्रथम संस्करण
१९५८

मूल्य
साढ़े तीन रुपये

मुद्रक
श्री कृष्णचन्द्र बेरी
विद्यामन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि०,
मानमन्दिर, वाराणसी

प्रकाशकीय

भारत की राजभापा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भापा-भापी क्षेत्रो के विशेप उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नही आती। हमें सविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राजकार्यों में व्यवहृत करना है, वरन् उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट वनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी में वाङ्मय के सभी अवयवो पर प्रामाणिक ग्रन्थ हो और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने हिन्दी समिति के तत्त्वावधान में हिन्दी वाङ्मय के सभी अङ्गो पर ३०० ग्रन्थो के प्रणयन एव प्रकाशन के लिए पचवर्षीय योजना परिचालित की है। यह प्रसन्नता का विषय है कि देश के वहुश्रुत विद्वानो का सहयोग इस सत्प्रयास में समिति को प्राप्त हुआ है जिसके परिणाम-स्वरूप थोडे समय में ही विभिन्न विषयो पर सोलह ग्रन्थ प्रकाशित किये जा चुके है। देश की हिन्दी-भाषी जनता एव पत्र-पत्रिकाओ से हमें इस दिशा में पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है जिससे हमें अपने इस उपक्रम की सफलता पर विश्वास होने लगा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी-समिति-ग्रन्थ-माला का १७ वाँ पुष्प है। हिन्दी में चित्रकला पर ग्रथो की वहुलता नही है और जो ग्रन्थ प्रकाशित भी हुए है उनमें प्राचीन भारतीय चित्र-कला के सबध में ही विचार किया गया है। भारत में चित्रकला में जो आधुनिकतम प्रयोग चल रहे है उनकी पृष्ठभूमि में कैसी भावना, कौन-सा उद्देश्य है इसका उद्घाटन अभी तक नही के वरावर हुआ है। इस पुस्तक के लेखक स्वय आधुनिक चित्रकला के

कलाकार हैं, अत: उसकी प्रवृत्तियों से उनका सहज परिचय है। ऐसी स्थिति में यह पुस्तक हिन्दी-भाषी जनता के लिए विशेष कर इस विषय के जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी इसी विश्वास से हम इसे हिन्दी के सहृदय पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं।

भगवतीशरण सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची



ज्वालाओं के बीच

चित्रकार–रामचन्द्र शुक्ल

कला-सरिता

सरिता जल की वह धारा है, जो पहाडो की चोटियो पर संचित जल का संबल ले, कल-कल करती, पत्थरो को काटती, जगलो में घूमती, मैदानो में रेगती उतरती है, और निरन्तर अपना टेढा-मेढा रास्ता बनाती चलती चली जाती है, जबतक कि सागर का विशाल दामन उसे अपने में छिपा नही लेता। सरिता विशाल हिमगिरियो के शिखरो पर जन्म लेकर अनन्त गहराई की ओर चल पड़ती है, जैसे उसको जन्म-जन्मान्तर से इसी गहराई की खोज हो। एक बार ऊँचाई से निकलकर दुबारा ऊँचाई पर चढना उसके लिए नामुमकिन है। वह पग-पग पर गहराई खोजती चलती है और जहाँ पा जाती है, झपट पड़ती है उसी ओर, जैसे यही गहराई उसके जीवन का लक्ष्य हो। इसी की खोज में वह बहती चली जाती है।

कौन कहता है सरिता में जीवन नही ? मनुष्य अपनी सम्पूर्ण शक्तियो के सहारे सुख की खोज में सरिता की भाँति बढता जाता है, जिसे वह जीवन तथा अपनी सस्कृति की प्रगति कहता है। सरिता गहराई खोजती है और शायद उसे ही वह सुख समझती है। मनुष्य और सरिता इसी तरह प्रगति करते जाते है; एक खोज, वही जीवन है—दोनो में है। सरिता सागर में पहुँचकर विलीन हो जाती है—अपने लक्ष्य को पा जाती है—अथाह गहराई को। मनुष्य की जीवन-यात्रा का भी अन्त है—गहराई, गहन अन्धकार। वह भी महान् अन्धकार में लीन हो जाता है। इसकी गहराई का कोई अन्त नही, सागर तो फिर भी नापा जा सकता है।

सरिता की प्रत्येक गति गहराई खोजती है। यही सत्य है। जीव भी यही खोजता है। सरिता को क्या अपना अस्तित्व मिटा देने में दुःख नही होता ? यह तो वही कह सकती है। मनुष्य भी अन्धकार में विलीन होने से भयभीत होता है। पर सत्य है कि वह फिर भी निरन्तर उसी ओर बढता जाता है, उसी की खोज में। जीवन एक खोज है।

मनुष्य जो कुछ भी करता है, इसी खोज के लिए। इसी खोज में सरिता पाषाणो को काटकर, पृथ्वी में दरार बनाती तब तक चली जाती है, जब तक अन्तिम गहराई नही पा

जाती। मनुष्य भी अपनी कलाओ के आधार पर इसी खोज में रत होता है। मनुष्य की कला इसी खोज का एक माध्यम है। कला अन्त नही है–अन्त तो है गहराई--कला एक सहारा है, एक तरीका है वहाँ तक पहुँचने का। कला कला के लिए नही है। कला लक्ष्य नहीं है। कला साधन है, उस खोज का।

कला की महानता इसमें नही कि वह क्या-क्या बनाती है–उसे तो खोज करनी है– अपने लक्ष्य की। नये रास्ते बनाने है, वहाँ तक पहुँचने के – वैसे ही जैसे सरिता बनाती है रास्ते, सागर तक पहुँचने के।

सरिता कभी मुड़कर नही देखती कि उसने पीछे क्या क्या बनाया है। वह तो बहती जाती है अपने लक्ष्य की खोज में। मनुष्य की कला का रूप क्या है, इससे कलाकार को सरोकार नही – वह तो अपनी कला के द्वारा कुछ खोजता है – वही जो सरिता खोजती है। किसने कितनी गहराई प्राप्त कर ली, यही उसकी प्रगति की सफलता का प्रमाण है।

कला भाव-प्रकाशन है, इससे कलाकारो को कोई सरोकार नही। कला भले ही भाव-प्रकाशन करे, परन्तु कलाकार के लिए इसका क्या महत्त्व ? महत्त्व तो है खोज के परिणामो का – गहराई का – अन्तिम लक्ष्य का।

कला भाव-प्रकाशन नही – खोज का रूप है। कला लक्ष्य नही, लक्ष्य की प्राप्ति का तरीका है।

कला मनुष्य की जीवन-यात्रा की सरिता है, जो उसके सम्मुख प्रगति के रास्ते खोजती चलती है।

कला एक खोज है।

कलाकार की कला

समुद्र के किनारे तथा नदियो के तट पर सीपें और घोघे पाये जाते हैं। ये सीप और घोघ अनेको रूप, रग तथा आकार के होते हैं और देखने में बहुत सुन्दर होते हैं। बहुत से लोग इनमें से अच्छे-अच्छे नमूने लाकर अपने घरो में सजावट के लिए रखते है और बहुत से लोग शौकिया तौर पर विभिन्न प्रकार के सीप तथा घोघो का सग्रह करते हैं।

सीप तथा घोघे पानी में रहनेवाले एक प्रकार के जन्तुओ के बाहरी शरीर का ढाँचा होता है, जो पत्थर तथा हड्डी की तरह मजबूत होता है। इसी के अन्दर वे जीव, जब तक जीवित रहते हैं, रहा करते हैं। मरने के बाद यह सीप-घोघोवाला उनका शरीर पनी के साथ बहाव से नदी तट पर आ जाता है। उसके अन्दर के जीव सूखकर, मिट्टी होकर, साफ हो जाते है।

इन सीपो तथा घोघो को जब हम समुद्र के किनारे तथा नदी तट पर पाते हैं तो इनके अन्दर के जीव नही दिखाई पडते और हम उन्हें उनके अन्दर न देखने के कारण उन सीप तथा घोघो को ही वह जीव समझते है।

परन्तु ऐसा नहीं है। ये सीप तथा घोघे उन जीवो के बाहरी शरीर या रूप के अवशेप मात्र हैं, जिनके अन्दर रहकर उन्होने जीवन-निर्वाह किया है।

इसी प्रकार कलाकार तथा उसकी कला है। कलाकार उस जीव के समान है जो सीप या घोघे में था और उसकी कला उस घोंघे तथा सीप के समान है। अर्थात् जिस प्रकार घोघा या सीप पानी के जन्तुओ का बाहरी रूप है, उसी प्रकार कलाकार की कला। चित्रकार के चित्र उस कलाकार के अवशेप हैं, जिनके अनुरूप उसने अपना जीवन निर्वाह किया है। जिस प्रकार सीप तथा घोघे का जीव मरकर अपना अवशेप छोड जाता है, उसी प्रकार कलाकार के चित्र। कलाकार के लिए उसके चित्र कोई तात्पर्य नहीं रखते। वह तो उसके जीवन का एक बाहरी रूप है। जिस प्रकार सीप का जीव मरने के बाद अपना बाहरी शरीर सीप या घोघा छोड़कर चला जाता है, और हम उसे उठाकर अपनी

बैठक में सजाते है या उसका अन्य उपयोग करते है, उसी प्रकार कलाकार अपने चित्रों को छोडता जाता है। यह उसका काम नही कि वह लोगो को बताये कि उसके चित्रो का क्या उपयोग है। न चित्रकार ही जानता है इसे, न जानने का प्रयत्न ही करता है। यह तो समाज का काम है कि उन चित्रो का क्या उपयोग है समझे और उसका उपयोग करे।

उन चित्रो को देखकर या उनका अध्ययन कर हम जान सकते है कि अमुक चित्रकार ने किस प्रकार का जीवन-निर्वाह किया। कलाकार समाज का नेता होता है, पथप्रदर्शक होता है, इसलिए उसके जीवन के तरीको को समझकर हम भी अपना जीवन उन्ही आधारों पर व्यतीत कर सकते है और आनन्द की प्राप्ति कर सकते है। जिस प्रकार धार्मिक तथा बौद्धिक नेताओ की लिखी हुई पुस्तकें, उनका दर्शन, उनकी वाणियाँ, उनके आदर्श, उनकी सम्मतियाँ, उनके उपदेश जानकर हम जीवन को सफल बनाते है, उसी प्रकार कलाकारो के चित्रो को देखकर तथा उनका अध्ययन कर।

एक प्रश्न

चित्र सभी देखते है और यह जानते हैं कि चित्र किसे कहते है। चित्र की परिभाषा जानने की एक वच्चे को भी आवश्यकता नही पडती। वह जन्म से वर्ष भर के अन्दर ही चित्र क्या है, जान लेता है। आरम्भ में थोडा भ्रम अवश्य होता है। वच्चा अपनी मा को देखता है, दूध पीता है, उसकी गोदी से लिपटा रहता है। पिता को पहचानता है, और धीरे-धीरे भाई-वहनो को पहचानने का प्रयत्न करता है। मा को तो खूव पहचानने लगता है। आप वच्चे के सामने उसकी मा का एक वडा फोटो रख दें, वह उसकी ओर निहारेगा। फोटो यदि रगीन हो तो वह जल्दी आकृष्ट होगा। कल्पना कीजिए, यदि उसकी माँ का ऐसा रगीन फोटो उसके सम्मुख रखा जाय जिसमें मा का वक्षस्थल उघरा हो और साफ-साफ दृष्टिगोचर हो, तो क्या होगा? मैंने ऐसे समय वालक को हाथ वढाते देखा है। वह भ्रम में पडता है, चित्र को अपनी मा समझता है और आशा करता है कि वह भी मा की तरह उसे दूध पिलाये।

यह तो वर्ष भर के वालक की वात हुई। वह चित्र को चित्र नही समझता वल्कि कोई वस्तु समझता है, जिसे वह छूना चाहता है, पकडना चाहता है, लेना चाहता है। उसके सामने शीशा रख दीजिए, वह अपनी शक्ल देखकर उसे ही पकड़ना चाहता है। शीशे को वार-वार अपनी नन्ही उँगलियो से नोचता है। पाता कुछ नही, केवल अनुभव। मैंने कई वार अपने कमरे में रखे वडे शीशे पर गौरैया को झगडते देखा है। गौरैया अपनी सूरत शीशे में देखकर घवडाती थी कि यहाँ दूसरी गौरैया कहाँ से आ गयी। वह शीशे पर वार-वार अपनी चोच मारती थी, लडती थी, और उसे ऐसा करते मैंने लगातार हफ्ते भर देखा है। गौरैया भी वालक की भाँति शीशे में अपने प्रतिविम्व को सच समझती है, और उससे लडने का प्रयत्न करती है, झुझलाती है, कभी शीशे के पीछे जाकर देखती है, कभी आगे आकर, कभी आवाज देकर। उसे भी भ्रम हो जाता है–चित्र को, प्रतिविम्व को वस्तु समझती है। वर्ष भर का वालक और चिडिया वरावर हैं। विलकुल एक-सी प्रकृति।

क्या यह प्रकृति आगे चलकर वदलती है? खास कर मनुष्य में? क्या वह चित्र को वस्तु समझना छोड़ देता है? क्या प्रतिविम्व को वह सच नही मानता?

मेरा ख्याल है, वडा मुश्किल है। आप स्वय विचार करे, आप में और वालक में क्या अन्तर है ?

सदियाँ वीत गयी, युग वीत गये। मनुष्य का रूप, रग, चाल-चलन, आचार-विचार सव कुछ वदल गया। वुद्धि का विपुल विकास हुआ। मनुष्य परमाणु शक्ति के वल पर शीघ्र ही चन्द्रलोक में पहुँचनेवाला है, परन्तु आज भी चित्र को वस्तु समझने का भ्रम वना है। अपनी जगह है। यूरोप के विश्व-विख्यात कलाकार रुवेन्स ने ऐसे चित्रो का निर्माण किया जिनमें शरीर के अग, जीवित लहू-युक्त मास-पेशियो-से प्रतीत होते है और उन्हें छूकर देखने की अनायास इच्छा होती है। भारतवर्ष में ऐसी कला तो दृष्टिगोचर नही हो सकी, पर राजा रवि वर्मा ने इस ओर प्रयास किया था। और भी इस प्रकार के चित्रकार थे, और है, यद्यपि उतनी सफलता उन्हें प्राप्त नही हुई। हमारे समाज मे भी अधिकतर व्यक्ति चित्र का यही आदर्श आज भी मानते है और कलाकार से ऐसी ही आशा करते है। क्या मै कहूँ कि वालक, गौरैया और मनुष्य की प्रकृति चित्र के प्रति आज भी एक-सी है ? हम चाहते है कि चित्र ऐसा हो जो वस्तु का भ्रम उत्पन्न कर सके। चित्र में किसी वस्तु का ऐसा चित्रण हो जो हमें भ्रम में डाल दे और चित्र में वनी वस्तु हम वही वस्तु समझ सकें।

आधुनिक कला ने हमारी इस प्रकृति के विलकुल विपरीत कदम उठाया है—हमारा भ्रम ही हमसे छीना जा रहा है। कैसे हम आधुनिक कला का आदर कर सकते है ?

भारतवर्ष में यद्यपि और वातो में मति-भ्रम हुआ है, परन्तु भारतीय प्राचीन चित्रकला का इतिहास प्रमाण है कि इस भ्रम में पड़ने का यहाँ कभी प्रयत्न नही हुआ।

आज यूरोप तथा अन्य पाश्चात्य देशो में भी आधुनिक कला ने इस भ्रम के विरुद्ध मोर्चा वना लिया है। चित्रकला स्वाभाविकता से कही दूर पहुँच गयी है।

चित्र चित्र है, वस्तु वस्तु है। दोनो एक नही है। हाँ, वस्तु का भी चित्रण हो सकता है, होता आया है, हो रहा है और भविष्य में भी होगा। अव प्रश्न यह है कि क्या वस्तु का ही चित्रण करना कला है ? ऐसा समझा जाता था और आज भी लोग ऐसा ही समझते हैं। चित्र शब्द का सम्वोधन करते ही प्रश्न उठता है, किस वस्तु का चित्र ? किसी जीव, पदार्थ या वस्तु का चित्र ? यह समझना एक परम्परा-सी हो गयी है। यही परिभाषा वन गयी है—चित्र किसी वस्तु का होता है अर्थात् चित्र रेखा, रग, रूप के माध्यम से किसी वस्तु का चित्रण होता है। चित्र वस्तु का चित्रण न होकर और क्या हो सकता है ? वस्तु-चित्रण ही कला है, ऐसा अधिकतर लोगो का ख्याल है।

इससे आगे जब हम बढते है तो सभ्य समाज में धारणा यह होती है कि कला का कार्य केवल वस्तु-चित्रण ही नही है, बल्कि कला के माध्यम से हम अपनी भावनाओ तथा विचारो की भी अभिव्यक्ति कर सकते है। चित्र ऐसा हो जो देखनेवाले के मन पर प्रभाव डाले, विचारो में परिवर्तन करे, नये विचार दे या कहिए कोई नव सन्देश यक्त करे—चित्र को बोलना चाहिए। बात जँच गयी, जम गयी और सभ्य शिक्षित समाज ने इसी को—चित्र की कला समझा। वस्तु से थोडा ऊपर उठकर भावना, विचार या सन्देश को प्रधानता मिली। पर यह सब वस्तु-चित्रण के द्वारा होना चाहिए, इसमें सन्देह न था, आस्था बन गयी यद्यपि वस्तु से अधिक प्रधानता अभिव्यक्ति को प्राप्त हुई। साथ-साथ भाव यह भी बना रहा कि चित्र सुन्दर होना चाहिए। अर्थात् वस्तु का चित्रण हो, भावना, विचार तथा सन्देश व्यक्त हो, और सुन्दरता हो। कला आगे बढी। अजन्ता, मुगल, राजपूत—सभी भारतीय प्राचीन कला-शैलियो में इस भाव का समावेश था। आधुनिक कलाकारो ने पुन इन भावो को दृढ किया। समाज ने इसे समझने का प्रयत्न किया।

फिर आधुनिक कला ने वस्तु-चित्रण के स्थान पर यह क्या किया ? ऐसे चित्र बनते है जिनमें यह मालूम ही नही पडता कि चित्र किस वस्तु का है, क्या भावना, विचार या सन्देश व्यक्त होता है। इन आधुनिक सूक्ष्म चित्रो को देखकर केवल जटिलता का बोध होता है। चित्रकारो का पागलपन या विकृति नजर आती है। यूरोप, अमेरिका, इगलैण्ड — सभी देशो के कलाकार पागल हो गये है, विकृत हो गये है, कि वहाँ मुश्किल से अब कोई ऐसा नया चित्र दिखाई पड़ता है जिसमें किसी वस्तु का चित्रण हो, क्या भावना या सन्देश है इसका पता लगे। सुन्दरता तो नजर ही नही आती। इन चित्रकारो को पागल समझनेवाले वहाँ काफी है, पर इसकी सचाई भारतवासियो को सात समुद्र पार से ही मालूम हो गयी है। हम विज्ञान में यूरोप से भले पीछे हो, पर सचाई तो हम ही दूसरो को सिखा सकते है। हमें इस पर गर्व है। इसका हमें दावा है। अफसोस तो इस बात का है कि हमारे कलाकार स्वय पागल हुए जा रहे है, इन पाश्चात्य कलाकारो को देखकर। क्या हमारे कलाकारो की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है ? क्या आजादी प्राप्त करने के बाद यही कार्य बाकी रह गया है ? पिछले वर्षों दिल्ली में 'ललित कला अकादमी' की प्रदर्शनियो में सूक्ष्म कला की बाढ़-सी आ गयी। रोके न रुकी। यहाँ तक कि प्रदर्शनी के सूचीपत्रो में दिये चित्रो तथा मान्यता प्राप्त चित्रो में केवल सूक्ष्म चित्र ही दिखाई पडे। क्या यह चिन्ता का कारण नही ? हमारे विद्वान् कला-रसिक, कला-इतिहासज्ञ, कला-पारखी इसे क्यो नही रोक पाते ?

इसीलिए कि क्रान्ति रोके से नही रुकती, तूफान थामे नही थमता। तो क्या होगा ?

कहूँ क्या ? "वही होता है जो मजूरे खुदा होता है।" या तो तूफान का सामना कीजिए या इस तूफान की ताकत का बुद्धि से मानवता के लिए प्रयोग कीजिए। दूसरा रास्ता नहीं।

इस तूफान का तात्पर्य क्या है ? यह क्यों है ? कहाँ से आया ? कहाँ हमें ले जायगा ? क्या यह घातक है ? यही है आज की कला के सम्मुख एक प्रश्न।

एक तूफान

१९४७ ई० में भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त की जो एक महान् क्रान्ति का फल है। भारत विदेशियो की सत्ता से मुक्त हुआ। स्वतन्त्रता की इस क्रान्ति का मुकाविला अग्रेज न कर सके। उन्हें भारत छोडना पडा। स्वतन्त्रता की लहर प्रत्येक भारतीय की नस-नस में दौडने लगी, चाहे वह गरीब हो या अमीर, छोटा हो या वडा, पढा-लिखा हो या जाहिल। कलाकार, साहित्यकार, विचारक — सभी ने स्वतन्त्रता की गगा में स्नान किया। हमने अपने विचार, सामाजिक जीवन तथा कार्य, सभी में स्वतन्त्रता का अनुभव करना आरम्भ किया। जिस प्रकार तूफान के खत्म हो जाने के पश्चात् वह सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ पर अपनी छाप छोड जाता है, उसी प्रकार स्वतन्त्रता का तूफान अपनी स्वतन्त्रता की भावना यहाँ के प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क पर अकित कर गया। हो सकता है कि सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से समाज का खाका इसका अधिक लाभ न उठा सका हो, परन्तु समाज के मूल कर्णधार साहित्यिको, कलाकारो और विचारको के भीतर यह स्वतन्त्रता का तूफान एक गहरी छाप छोड़कर ही गया। विचारो की स्वतन्त्रता इसमें सबसे प्रधान है।

कलाकार तो ऐसे प्रभावो को वहुत ही शीघ्रता से ग्रहण करता है और उसी का फल है आधुनिक भारतीय चित्रकला में स्वतन्त्र चित्रण का एक तूफान। इस तूफान से पहले भारतीय चित्रकला वगाल शैली के सहारे जीवित होने का साहस कर रही थी। एकाएक कला के क्षेत्र में एक नया तूफान उमड पडा, स्वतन्त्र चित्रण का। तूफान दिन पर दिन जोर पकडता जा रहा था। अभी उसकी तीव्रता बढती ही जा रही है। भारतीय चित्र-कला पर यह तूफान क्या असर छोडकर जायगा, यह आज निश्चित नही कहा जा सकता, परन्तु आज भी हम तूफान का जो रंग देख रहे है उसका सक्षिप्त वर्णन तो कर ही सकते है और उसी आधार पर उसका विश्लेपण भी किया जा सकता है।

आधुनिक समाज में कला और कलाकार

प्रथम वार भारतीय कलाकारो को राज्य की ओर से सम्मान प्राप्त होना प्रारम्भ हुआ है, जिसकी चर्चा हमने समाचार-पत्रो में पढी है। इन सम्मानित लव्धप्रतिष्ठ प्रथम कलाकारो में श्री नन्दलाल वोस, श्री शिवास्क चावड़ा, श्री यामिनी राय, श्री के० के० हेव्वर, श्री रामकिंकर, श्री एन० एस० हुसेन, श्री आइ० एन० चक्रवर्ती, श्री के० सी० एस० पनीकर और श्री के० शकर पिल्लई हैं। मेरा ख्याल है, हममें से वहुत कम लोग है जो नन्दलाल वोस के अतिरिक्त किसी और कलाकार का नाम जानते है या उनकी कला से परिचित हैं। यह वहुत ही दु ख की वात है कि हम राजनीति तथा साहित्य के क्षेत्र में पिद्दी से नेता तथा कवि या साहित्यकार का नाम भी जानते है, पर अपने देश के अग्रगण्य कलाकारो से जरा भी परिचित नही।

तात्पर्य यह है कि अभी हमारा देश कला के क्षेत्र में सोया हुआ है। कला-विहीन जीवन मृत्यु के समान है, ऐसी अवस्था का कारण हम और आप हैं। हमने अभी तक इस ओर ध्यान दिया ही नही है। हमने अपने जीवन में कला को कोई स्थान नही दिया और इसके लिए हमें दूसरो का मुँह ताकना पडता है। मै आज के आधुनिक हिन्दी साहित्यिको, आलोचको तथा विद्वानो को चेतावनी देता हूँ कि अगर इस ओर उन्होने ध्यान नही दिया तो वह दिन दूर नही जव देश पुन. सुप्तावस्था को प्राप्त होने लगेगा।

इस सवका कारण यह है कि अभी तक हमने यह भली-भाँति अनुभव ही नही किया है कि कलाओ का हमारे जीवन में क्या महत्त्व है। हमारे साहित्यिक समझते है कि यदि किसी कवि या लेखक की आलोचना कर सकें या कोई गप्प या कथा लिख सकें या वर्तमान आर्थिक तथा राजनीतिक टिप्पणी लिख सकें तो उनका हिन्दी के प्रति कर्त्तव्य पूरा हो जाता है, पर साहित्य इतना ही नही है। साहित्य में जीवन के सभी पक्ष होने चाहिए। साहित्य और कला में वहुत गहरा सम्वन्व है।

साहित्य का कार्य स्वयं कला का कार्य है या कला है, परन्तु साहित्य का मुख्य कार्य है कलाओ को प्रेरणा देना। साहित्य का विपय कला होता है। यदि हम साहित्य की

उत्पत्ति पर ध्यान दें तो देखेंगे कि जीवन में कला का कार्य सबसे पहले आता है। जीवन को बनाये रखना, सुन्दरतापूर्वक जीवन निर्वाह करना, स्वयं कला का कार्य है और आदि-काल से है। इसी के अन्तर्गत और सभी कलाओ का प्रादुर्भाव हुआ। इसके पश्चात् जब भाषा-कला की उत्पत्ति हुई तो इसके माध्यम से अन्य कलाओ या मनुष्य के कार्यो का ब्यौरा साहित्य के रूप में इकट्ठा होने लगा और आज भी होता जा रहा है। कोई साहित्य तभी महान् होता है जब वह मनुष्य के जीवन के प्रत्येक कार्य पर या कहिए प्रत्येक कला पर साहित्य का निर्माण कर लेता है। साहित्य किसी जाति या देश को ऊपर उठाता है, क्योकि वह वहाँ के प्राणियो में प्रेरणा भरकर आगे कार्य करने की क्षमता प्रदान करता है और यही साहित्य का सबसे महान् कार्य है। ज्यो-ज्यो विभिन्न प्रकार का साहित्य तैयार होता जाता है, देश उन्नति के शिखर पर चढता जाता है। पूर्ण साहित्यकार वही है जो मनुष्य को भली-भाँति समझता है और उसको कला का कार्य करने के लिए प्रेरित करता है, क्योकि कला या निर्माण के कार्य पर ही देश या जाति का भविष्य निर्भर करता है। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी साहित्य की क्या प्रगति है, हम आँक सकते है, और शायद इसीलिए मेकाले ने कहा था कि सारे एशिया का साहित्य अंग्रेजी साहित्य की एक अल-मारी के बराबर भी नही, हिन्दी का क्या कहना। यदि हम चाहते है कि दुबारा ऐसा शब्द कोई अपने मुँह से यहाँ के साहित्य के बारे में न निकाले तो हमें जल्दी से जल्दी होश में आ जाना चाहिए और भारतीय विभिन्न कलाओ पर उच्चतम साहित्य का निर्माण करना चाहिए। आज कला का विद्यार्थी या कला-रसिक प्रेरणा लेने के लिए जब हिन्दी साहित्य की ओर निहारता है तो उसे निराश होना पडता है। मेरा ख्याल है कि हिन्दी-प्रेमी इसे एक चुनौती के रूप में लेना स्वीकार करेंगे।

यो हिन्दी भाषा में भी साहित्यकार कला पर कभी-कभी शौकिया तौर पर लिखने का प्रयत्न करते है और यह अच्छे लक्षण है, पर दिक्कत तब होती है जब वे केवल सुनी भाषा बोलते है, जिससे यह तुरन्त ज्ञात हो जाता है कि कला में रस उन्हें अभी नही मिल पाया है, और बस सब मज़ा किरकिरा हो जाता है। अच्छा साहित्यकार मनुष्य तभी बन पाता है जब वह जीवन में रस लेता है, जीवन में आनेवाली प्रत्येक वस्तु तथा घटना उसके हृदय में घर कर चुकी हो, उस पर उसने विचार तथा मनन किया हो। साहित्य का निर्माण केवल शब्दो से नही होता, बल्कि आत्मानुभूति पर निर्भर करता है। किसी कलाकार के बारे में यह कह देना कि वह महान् है, अद्भुत है—इतने से ही उसकी कला का परिचय नही मिल सकता। जब तक वह अपनी अनुभूति प्रकट नही करता, उसका वर्णन बेकार हो जाता है और मालूम पड़ता है कि ये शब्द इसने कही से चुराये है।

आज की आधुनिक चित्रकला एक अनोखा रूप धारण कर रही है और दिन-दिन उसका

प्रचार भी अधिक बढता जा रहा है, परन्तु फिर भी हम उसका आनन्द नही ले पाते। इस प्रकार के अनेको आधुनिक चित्रकार कार्य कर रहे है, पर न तो हम उनका नाम जानते है और न उनकी कला से ही परिचित है। शुरू में मैंने उन आठ कलाकारो का नाम लिया है जिनको राज्य की ओर से प्रथम पदक मिले थे। उनमें अधिकागत आधुनिक विचार के कलाकार है, पर हम में से शायद कोई भी उनकी कला से परिचित नहीं। ऐसा पदक कलाकार नन्दलाल वोस को भी मिला है, जिनके नाम से तो प्राय हम सभी परिचित है, चाहे कला से न हो। नन्दलाल बोस वयोवृद्ध चोटी के कलाकार है, उनकी सेवाओ पर भारत को गर्व है, पर क्या अन्य सातो सम्मानित कलाकारो को जानना और उनकी कला से परिचित होना हमारा कर्त्तव्य नही है? इनमें से कुछ तो विलकुल आधुनिक है। नन्दलाल वावू का नाम तो धीरे-धीरे सभी ने सुन लिया है, पर इन कलाकारो की कला को भी सम्मान मिलना चाहिए। साहित्य या कला किसी एक की निधि नहीं होती। उस पर सवका अधिकार है और सभी को कला का कार्य करने के लिए प्रेरणा की आवश्यकता है। एक ओर जव साहित्य का यह कर्त्तव्य है कि वह समाज को यह वतायें कि पहले क्या हो चुका है, तो उससे अधिक महत्त्व की वात यह है कि भावी कलाकारो को प्रेरणा दे जिनके ऊपर हमारा भविष्य निर्भर करता है।

लोगो का ख्याल है कि कला में आनन्द पाना सार्वजनिक नही है और इसमें आनन्द उसी को मिल सकता है जो स्वय कलाकार है या जिसने थोडा-वहुत कला का अध्ययन किया है। कला में प्रवीणता या उसमें रस पाना एक ईश्वरीय वरदान है, यह कथन और भी सत्य प्रतीत होता है जव हम देखते है कि आधुनिक समाज में कला को क्या स्थान प्राप्त है। कलाकार जीवन भर रचना का कार्य करता है, पर अक्सर वह समाज में अपना स्थान नही वना पाता, न समाज उसके परिश्रम का मूल्य ही देता है। कला की साधना करना कलाकार के लिए जीवन से लडना है। कितने ही कलाकार अपने लहू से रचना करके मिट गये, पर समाज उन्हें जानता तक नही, उनकी कला का रस लेना तो दूर रहा। ऐसा समाज यह भी कहता है कि कला एक साधना है जिसके लिए मर मिटना कलाकार का कर्त्तव्य है। विना वलिदान के कला प्राप्त नही हो पाती। इतना ही नही, लोगो का विश्वास है कि कलाकार उच्च रचना तभी कर सकता है जव दुनिया भर का दु:ख वह भोग ले और तड़पन की ज्वाला में भुजते हुए जव उसके मुँह से आह निकलने लगे, तभी वह सफल रचना कर सकता है। शायद ऐसा समाज इस आह में सवसे अधिक रस पाता है। पाठक क्षमा करेंगे यदि मै कहूँ कि रोम का शासक विख्यात नीरो सवसे महान् व्यक्ति था और उसे कला की सवसे ऊँची परख थी, इसीलिए वह मनुष्य को खूँखार भूखे शेरो के कटघरो में डालकर उस व्यक्ति के मुँह से निकली हुई आह का रसास्वादन सुनहले

तख्त पर बैठकर शराब की चुस्कियाँ लेता हुआ करता था। और तारीफ यह कि वह उसका आनन्द लेने के लिए अपने समाज के अन्य व्यक्तियो को भी निमन्त्रित करता था। हजारो की तादाद में लोग इकट्ठा होकर इस आह का रसास्वादन करते थे।

जरा कल्पना कीजिए कि आप कलाकार होते और नीरो के राज्य में जीवन-निर्वाह करते होते। एक दिन शेर के कटघरे में यदि आप डाल दिये जाते और शेर ने आपकी छाती में अपना नुकीला पजा चुभाया होता, उस समय नीरो आपको कविता पाठ करने की आज्ञा देता तो आपकी क्या दशा होती? नीरो तो एक व्यक्ति था, कभी-कभी सारा समाज नीरो बन जाता है।

यह सत्य है कि भावो के उद्वेग में ही कला की उत्पत्ति होती है, परन्तु भाव से कलाकार पैदा नही होते, कलाकार भाव पैदा करते हैं। एक भूखे से पूछिए कि कला कहाँ है तो कहेगा रोटी में, एक अधे से पूछिए तो कहेगा अधेरे में, राजा कहेगा महलो में और रक कहेगा झोपडी में, राजनीतिज्ञ कहेगा राजनीति में, धार्मिक कहेगा धर्म में। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की जैसी मनोवृत्ति होगी उसी रूप में वह अपने वातावरण को समझेगा, जिस प्रकार लाल चश्मा लगा लेने पर सारी दुनिया लाल दीखती है। यह चश्मा कला का गला घोटता है, सत्य पर परदा डाल देता है। सच्चा कलाकार वही है जो इस चश्मे को उतार फेंकता है और पैनी आँखो से सत्य की ओर देखता है। कलाकार भाव का गुलाम नही होता, भाव कलाकार का गुलाम होता है। वह रचना जो चश्मे के आधार पर हुई है, कभी सफल तथा सत्य या सुन्दर नही कही जा सकती। सच्ची कला की रचना तब होती है जब कलाकार कमल की भाँति कीचड में रहकर भी कीचड से ऊपर होता है और ऊपर रहकर भी अपनी जड उसी कीचड में रखता है, उससे भी अपनी खुराक लेता है। अर्थात् सच्चा कलाकार वह है जो नीचे रहकर भी ऊपर को जान ले और ऊपर होकर भी नीचे को पहचानता हो। वह समदर्शी होता है। वह भावो का गुलाम नही होता, भावो को वह उत्पन्न करता है।

किसी विख्यात कथाकार से जब पूछा गया कि प्रेम सम्बन्धी कथा-साहित्य का निर्माण सबसे अच्छा किस समय होता है तो उसने कहा कि जब कथाकार ने प्रेम करना छोड़ दिया हो। जिस समय व्यक्ति स्वय किसी के प्रेम में बँधा रहता है, उस समय यदि वह प्रेम पर कुछ लिखे तो वह प्रेम में अन्धा भी हो सकता है। जब वह प्रेम कर चुकता है और उससे काफी अनुभव प्राप्त कर लेता है, और स्वय हृदय तथा मस्तिष्क से किये हुए अनुभव पर पुन मनन करता है, तब उसे सच्ची अनुभूति प्राप्त होती है और तब उसकी रचना स्वस्थ तथा सुन्दर होती है, क्योकि अब वह प्रेम का गुलाम नही है। कथाकार प्रेम में अन्धा होकर नही लिख रहा है, बल्कि प्रेम से ऊपर होकर प्रेम पर शुद्ध रूप से विचार कर रहा

है । इसी प्रकार क्षणिक भावावेश में आकर विना भली-भाँति मनन किये उत्कृष्ट रचना नही हो सकती और अगर ऐसे समय रचना होती है तो वह स्वस्थ नही होती । इस प्रकार यह समझना कि सच्ची कला की रचना उसी समय हो सकती है जब कलाकार भूखा हो, दरिद्र हो और दुनिया की मुसीबतो से जर्जरित हो गया हो, नितान्त मूर्खता है । ऐसी भावना उन्ही लोगो की होती है जो कलाकार से उसी प्रकार की आह सुनने को उत्सुक होते है जैसे नीरो मनुष्य को शेर के कटघरे में डालकर सुनता था ।

सच्ची और उत्कृष्ट कला की रचना उसी समय हो सकती है जब कलाकार के मन, मस्तिष्क और शरीर में सुडौलता रहती है । यदि एक कलाकार जिसको हजार कोशिश करने पर भी दोनो समय का खाना नही जुटता, कविता की रचना करना चाहे तो उसके मन में सुडौलता कभी नही रह सकती । या तो वह भूख-तडपन से पीडित रचना करेगा और समाज के अन्य व्यक्तियो के प्रति आग उगलेगा या जिस प्रकार भूखा कुत्ता किसी को कुछ खाते देखकर जीभ तथा पूँछ हिलाता है और लार टपकाता रहता है, दया का पात्र वनेगा, दूसरो को कुछ देना तो दूर रहा ।

सच्ची कला की रचना उसी समय हो सकती है जब कलाकार सुखी और सम्पन्न हो, हृष्ट पुष्ट हो, सुडौल विचारवाला हो, समाज से घृणा न करता हो, किसी के प्रति द्वेष न रखता हो, जीवन का मूल्य समझता हो । इसका यह तात्पर्य नही कि आज तक जितने उत्कृष्ट कलाकार हुए है उनको यह सब प्राप्त था । मेरा तो यह कहना है कि अगर उनको यह सब भी प्राप्त होता तो और भी ऊँची कला का निर्माण हुआ होता और आज उनकी देन से हमारा समाज और भी ऊँचे तथा सुडौल धरातल पर होता । कलाकार एक घड़े के समान है । जैसा जिसका घडा होता है, ससार से वह उतना ही उसमें भर पाता है । अगर घडा टेढा-मेढा है, फूटा हुआ है तो उसमें क्या रह सकेगा, यह साफ है । सुडौल, मजबूत तथा सुन्दर घडा ही अपने अन्दर कोई बड़ी तथा सुन्दर वस्तु रखने की कल्पना कर सकता है ।

इस प्रकार उत्कृष्ट रचना के लिए यह आवश्यक है कि कलाकार हर प्रकार से सुडौल हो, विशाल व्यक्तित्ववाला हो । उसे किसी प्रकार की लालसा न हो अर्थात् वनारसी भाषा में "मस्त रहनेवाला" हो । इसी मस्ती में उससे कुछ उत्तम रचना की आशा की जा सकती है । कलाकार चिन्ता से रहित हो, ऐसे त्यागी के समान हो जिसे कुछ पाने की लालसा न हो अपितु समाज को कुछ देने की क्षमता हो । वह अपने लिए चिन्तित न हो वल्कि समाज की शुभकामना करता हो । समाज का व्यक्ति होते हुए भी समाज के दायरे से ऊपर उठकर समाज का निरीक्षण कर सकने की क्षमता रखता हो । अपने को अकेला न समझे वल्कि घट-घट में व्याप्त होने की क्षमता रखता हो । अपनी भावनाओ में वहनेवाला

न हो बल्कि दूसरो के भावो में प्रवेश करने की क्षमता उसमें हो। अपना दर्द लिये समाज को दर्दीला न बनाये बल्कि समाज के दर्द से व्यथित होनेवाला हो। अपनी खुशी में मस्त न हो बल्कि समाज की खुशी में हिस्सा लेनेवाला हो। समाज के साधारण व्यक्ति के समान मुसीबतो में रोनेवाला न हो बल्कि समाज का पथ-प्रदर्शन करने की क्षमता रखता हो।

ससार में जीव जो कुछ करता है, सुख पाने की लालसा से करता है। सुख की वृद्धि के लिए ही समाज भी बनता है। जब व्यक्ति अकेले सुख प्राप्त करने में असमर्थ होता है तब उसे समाज की शरण लेनी पड़ती है। समाज से उसे बल मिलता है। समाज की शक्ति उसे अधिक सुख की प्राप्ति कराने में सहायक होती है। मनुष्य बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक समाज पर आश्रित रहता है। वह जो कुछ सीखता है, अनुभव करता है या प्राप्त करता है, उसका आधार समाज ही होता है। व्यक्ति समाज का एक अग है जो समाज के द्वारा पोषित होता है। व्यक्ति का जो स्वरूप बनता है वह उसका अपना रूप नही है और अगर है तो बहुत थोडा-सा, अधिकतर समाज का ही दिया हुआ रूप होता है। समाज यदि जननी है तो व्यक्ति उसका बालक। जिस प्रकार बालक माता-पिता के गुणो को सचित कर विकसित होता है, उसी प्रकार व्यक्ति समाज के गुणो को सचित कर भविष्य के अनुरूप बनता है। मेढक का बच्चा मेढको-सा ही व्यवहार सीखता है और मेढको के ही समाज में रहना चाहता है। वह उनसे कभी अलग हो ही नही सकता। इसी प्रकार व्यक्ति अपने जीवन में सब कुछ समाज से ही सीखता है और उसी जैसा व्यवहार करता है। उसके किसी व्यवहार को हम असामाजिक व्यवहार नही कह सकते, क्योंकि वह समाज का ही बनाया हुआ है और उसके उचित या अनुचित कार्यो का उत्तरदायित्व भी उसी समाज पर है जिसका वह एक अग है।

जब व्यक्ति समाज का ही बनाया हुआ है, समाज पर ही आश्रित रहता है तब यह कहा जा सकता है कि उसे अपनी सारी शक्ति समाज के हित तथा प्रगति के लिए प्रयोग करनी चाहिए। यही उचित है और न्याय-सगत भी। जब हम किसी से लेते हैं, तो उतना ही उसे देना भी चाहिए। अगर यह ठीक है तो व्यक्ति समाज को वही दे सकता है जो उसने पाया है। कलुषित समाज में पैदा हुआ तथा पला-पोसा व्यक्ति समाज को कालिमा ही देगा, यह स्वाभाविक है। मेढक मेढको से पैदा होकर तथा तालाब के वातावरण में रहकर वही कार्य करेगा जो अन्य मेढक करते है, और जो तालाब के वातावरण में हो सकता है। मेढक न घडियाल बन सकता है, न तालाब के वातावरण में स्वच्छ कमल। उसका आचरण सदैव मेढको का-सा ही होगा। परन्तु मेढ़क और मनुष्य में अन्तर माना गया है। अन्तर है मस्तिष्क का। मस्तिष्क की शक्ति अपार है, कल्पना से भी अधिक। परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क भी मनुष्य का ही मस्तिष्क है, उसी दायरे में है,

उससे परे नही हैं। मनुष्य वही कर सकता है जो मनुष्य की क्षमता के अन्दर है, जिस प्रकार मेढक तालाव में रहकर वही कर सकता है जो मेढको की क्षमता के भीतर हैं। अव प्रश्न यह है कि मनुष्य की क्षमता क्या है और कितनी है। कभी-कभी तो मनुष्य की क्षमता को भी अपार माना गया है। यह क्षमता कहाँ से आती है समझ में अही आता। जो भी हो, साधारण दृष्टि से मनुष्य की क्षमता वही हो सकती है जो उसे प्राप्त है और मनुष्य को अपनी उस शक्ति का उपयोग समाज में ही करना है, समाज से जो लिया है उसे समाज को ही देना है।

इस विचार से "कला कला के लिए है" यह न्याय संगत नही मालूम पडता। कला मनुष्य का कार्य है, एक शक्ति है। मेढको का कूदना, फुदकना, टर्र-टर्र करना भी एक प्रकार की कला है और जिस प्रकार उनकी कला का उपयोग उनके लिए तथा उनके समाज के अन्य मेढको के लिए ही है, उसी प्रकार मनुष्य की कला का उपयोग भी उसके लिए तथा केवल मनुष्य के समाज के लए ही है। मेढको ने फुदकना तथा टर्र-टर्र करना मेढको से ही सीखा है। उनकी इस कला का गुरु उनके माता-पिता तथा उन मेढको का समाज ही है। उसी प्रकार मनुष्य भी कलाओ को अपने समाज से ही सीखता है, कला का कार्य करने की प्रेरणा भी उसे अपने सामाजिक जीवन की अनुभूतियो से ही प्राप्त होती है। उसकी कला का रूप उसकी अनुभूतियाँ होती है, फिर "कला कला के लिए है" यह कैसे कहा जा सकता है ? लेकिन "कला कला के लिए है" यह विचार वडा प्राचीन है और इसमें विश्वास करने वाले आज भी वहुत से हैं। आधुनिक पिकासोवाद, सूक्ष्मवाद, क्यूविज्म, सूरियलिज्म, इत्यादि सभी "कला कला के लिए है" से प्रभावित कहे जा सकते है, क्योकि इन सभी प्रकार की शैलियो में सामाजिक–चित्रण वहुत ही कम मिलता है, और मिलता भी है तो जोर अन्य वस्तुओ पर दिया होता है, खास कर रूप तथा रग पर। ऐसे चित्र में विपय गौण-सा रहता है। इन चित्रो का आनन्द साधारण समाज नही ले पाता, परन्तु कलाकार इनसे वहुत आनन्द पाता है। ऐसे कलाकारो से लोग शिकायत करते है कि उनके चित्र जनता की समझ में नही आते। उस पर आधुनिक कलाकार चुप रहता है और इसकी चिन्ता नही करता कि उसके चित्र समाज को पसन्द है या नही। ऐसी स्थिति में ही लोग कला को कला के लिए समझने लगते है, तव कलाकार समाज का ख्याल करता हुआ नही दिखाई पडता। यह स्थिति देखकर ही फ्रासीसी विचारक लकातदलिस्ल Leconte de Lisle ने कहा है—

"कलाकार उसी समय इस विचार की ओर झुकता है कि "कला कला के लिए है," जव वह अपने को अपने समाज से जुदा पाता है।" अर्थात् जव समाज कलाकार की कृतियो का मूल्य समझने में असफल होता है और कला का आदर करना त्याग देता है, तव कला-

लयात्मक सृष्टिकारी चित्र



भँवर के बीच में

कार निराश होकर कला का कार्य करना नही छोड देता, बल्कि कला का कार्य फिर भी करता जाता है और उसका आनन्द अब स्वय लेता है। उसे समाज मे प्रशसा की आशा नही रहती। ऐसे समय जब उससे कोई कुछ पूछता है तो वह यह न कहकर कि वह समाज के लिए कला की रचना करता है, कहता है कि वह अपनी रचना कला के लिए करता है, अर्थात् उसे उसमें मजा आता है इसलिए करता है। वह ऐसा दूसरो को दिखाने के लिए नही करता। ठीक भी है उसका ऐसा कहना, क्योकि अगर वह कहे कि वह अपनी रचना समाज के लिए करता है तो लोग कहेंगे कि समाज तो उसकी रचना को समझ ही नही पाता, न उसका कोई आनन्द ही ले पाता है, तब कैसे वह कहता है कि वह अपनी रचना समाज के लिए करता है ? इसीलिए कलाकार यही कहना उचित और हितकर समझता है कि 'कला कला के लिए है।'

एक बार किसी गाँव का एक धनी व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ पहली बार शहर घूमने आया। बाजार में एक दूकान पर बडी भीड लगी थी और तरह तरह के स्त्री-पुरुषो की तस्वीरें टँगी थी। दोनो वही रुक गये और यह जानने का प्रयत्न करने लगे कि आखिर माजरा क्या है। एक अन्य देहाती को दुकान से बाहर निकलते हुए देखकर अपनी भाषा में उससे पूछा—"का गुरू, काहे क भीड़ लागल बा ?" बाहर निकलते हुए देहाती ने अपनी तथा अपनी स्त्री का फोटो दिखाकर कहा—"गुरू देखा, कैसन निम्मन बनौलेस हो।" हमारे देहाती की स्त्री इन चित्रो को देखकर अपना फोटो खिंचवाने के लिए मचल पड़ी। दोनों दुकान में गये और फोटो खिंचवाया। फोटो जब हाथ में आया तो सज्जन अपनी स्त्री का चित्र देखकर बडे प्रसन्न हुए, पर जब स्त्री ने अपने पतिदेव का चित्र देखा तो उसे बड़ा अचम्भा हुआ। पतिदेव की एक आँख का चित्र में नाम-निशान न था। स्त्री ने पति के कान में कुछ कहा। पति ने मारे नाराजगी के चित्र दुकान पर पटक दिया और कहा "मखौल करत हौवा महराज ?" वह डडा सम्हाल ही रहा था कि दुकानवाले ने हाथ-पैर जोडकर उन्हें किसी तरह विदा किया। समाज के इस देहाती का फोटोग्राफर ख्याल नहीं कर सका क्योकि उसने इस देहाती का फोटो ऐसा खीचा था जिसमें केवल एक ही आँख दिखाई पड़ती थी। परन्तु बेचारे देहाती ने तो यही समझा कि फोटोग्राफर ने उसे काना बना दिया। फोटोग्राफर का चित्र, उसकी मेहनत, उसकी कला सब बेकार हो गयी क्योकि समाज के देहाती को वह खुश न कर सका।

इसी प्रकार एक बार विश्वविख्यात डच कलाकार रेम्ब्रा को खेलाडियो की किसी टोली ने अपना ग्रूप चित्रित कराने के लिए आर्डर दिया। कुछ दिन बाद जब चित्र तैयार हुआ तो खेलाडियो को वह चित्र पसंद न आया। कारण यह था कि रेम्ब्रा अपने चित्रों में छाया तथा प्रकाश का प्रयोग अधिक करता था। प्रकाश को कही-कही डालकर चित्र में

पात्रो को उभारता था जिससे चित्र में एक विलक्षणता आ जाती थी। ऐसे चित्र में पात्र का रूप बिलकुल साफ नही दिखाई पडता। कभी-कभी पात्र अँधेरे मे पड जाता है। यही हाल खेडालियो के चित्र का भी हुआ। ग्यारह खेलाडियो में से कुछ का जो प्रकाश में थे, रूप साफ-साफ था तथा पहचाना जाता था, पर अँधेरे में पडे खिलाडियो का रूप धूमिल था और पहचान में नही आता था। ऐसे खेलाडियो ने चित्र को नापसन्द कर दिया। रेम्ब्रा कुछ न बोला, और चाकू से उस बडे चित्र को टुकडे-टुकडे कर डाला। पेशगी ली हुई रकम वापस करके खेलाडियो को बाहर कर दरवाजा बन्द कर लिया। ऐसे समय में रेम्ब्रा अगर कहे कि—'कला कला के लिए है' तो क्या अनुचित है ?

कलाकार, दार्शनिक या वैज्ञानिक समाज के उपयोगी अग हैं। यह तो आज कोई नही कह सकता कि कला, दर्शन या विज्ञान के आविष्कार ने समाज को लाभ नही पहुँचाया; परन्तु आज भी कलाकार, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक का स्थान समाज में निराला होता है। इनका जीवन प्राय अधिक सामाजिक नही हो पाता। साधारण लोग इनके गुणो तथा कार्यो मे अपने समय में परिचित नही हो पाते और यही कारण है कि इन विभूतियो का सामाजिक जीवन कष्टप्रद हो जाता है। फिर भी समाज इनको भविष्य में ऊँचा स्थान देता है और इनसे समाज का कल्याण होता है।

आधुनिक चित्रकार की मनोवृत्ति

प्राय. लोगो को यह कहते सुना गया है कि "भाई, मै चित्रकला का पारखी बिलकुल नही हूँ और मै इसको देखकर कोई विशेप आनन्द भी नही ले पाता, यह तो चित्रकारो का काम है कि उसे लोगो को समझायें और स्वय भी आनन्द लें।" यही नही, यदि अकस्मात् वे किसी चित्र-प्रदर्शनी में पहुँच भी गये तो कुछ क्षण यहाँ-वहाँ घूमकर कमरे की चारो दीवारो, द्वारो में टँगे चित्रो के सुनहले फ्रेमो को देखकर बाहर चले आते है। यही क्या कम बात है ? प्रदर्शनी में आये और लोगो ने उन्हें देख तो लिया कि उन्हें भी चित्रकला से प्रेम है और उसका ज्ञान है। इससे अधिक वे कर ही क्या सकते है। कुछ अश तक यह ठीक भी है। परन्तु इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि चित्रकला का वर्तमान समाज में कोई स्थान नही है और यदि यही स्थिति रही तो कदाचित् चित्रकला का नाम भी समाज भूल जायगा। वे भी आधुनिक सभ्य नागरिक है और यह है वर्त्तमान भारतीय समाज की प्रगति।

इन कतिपय पक्तियो से पाठको का हृदय किंचित् दु खित हुआ होगा, जिसका कारण स्पष्ट है। आधुनिक चित्रकला मनोवैज्ञानिक है, यद्यपि प्राचीन चित्रकला उसका अपवाद नही है। चित्रकला की वर्तमान प्रगति को यदि मनोवैज्ञानिक नही समझ पाये तो उसे कोई नही समझ पायेगा। आज चित्र को समझने के लिए चित्र का मनोविज्ञान समझना अत्यावश्यक है। आप कहेंगे, चित्र तो जड पदार्थ है, इसमें मन कहाँ ? परन्तु आप इसे भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि चित्र निर्जीव होते हैं। इससे सभी सहमत होगे कि चित्र, चित्रकार के मनोभाव का प्रतीक होता है। अत चित्रकार के मनोवैज्ञानिक विश्लेपण के माध्यम से हम सरलतापूर्वक चित्रो के मनोवैज्ञानिक सत्य का साक्षात्कार करके ही वर्तमान चित्रकला की नयी धारा का स्वागत कर सकेंगे।

आज से पहले भारत की चित्रकला अपने स्वर्णयुग को देख चुकी है, अपने अवसान को भी उसे देखना पड़ा है। अब वह नये युग में है और नया रूप लेने के लिए उत्सुक है। आज से पहले की चित्रकला भारत में धर्म-प्रचारक थी, और उसका गुणगान करना ही

उसका एकमात्र कार्य था। उसे धर्म का दास समझना चाहिए। चित्रकला धर्म की सीमा में दौड़ लगाती रही और वह उससे मुक्त न हो पायी। जो मुक्त नही वह कला नही कुछ और है, कम से कम उसे ललितकला में स्थान नही मिल सकता। उस समय चित्रकार पहले धार्मिक होता था, फिर चित्रकार। उस समय चित्रकला का कार्य धार्मिक भावो का यथातथ्य चित्रण करना था और यह काम उन चित्रकारो ने यत्नपूर्वक किया, इसमें कोई सन्देह नही। परन्तु उन्होने जो कुछ किया कला की दृष्टि से, विशेपत आधुनिक कलाकार की विचारधारा से सदेहास्पद है।

उस समय चित्रकार आज से कुछ अधिक प्रसन्न था, क्योकि वह धर्म के प्रचार का एक मुख्य अग था, इसलिए धार्मिक-समाज उसको एक उच्च स्थान देता था। उसके जीवन के सभी साधनो और आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। वह अन्नजल से परिपूर्ण था। अत उसने अत्यन्त उत्कृष्ट कला का निर्माण किया जो आज भी हमें अजन्ता, एलोरा, एलिफैण्टा इत्यादि में देखने को मिल जाती है।

मध्यकालीन युग में मुगल तथा राजपूत चित्रकला ने भी अपना स्वर्ण-युग देखा। मुगल सम्राटो, नवाबो के मनोरजन और विलासिता का वह साधन बनी। यह उनकी क्षणिक पिपासा की पूर्ति का साधन थी। उस समय भी चित्रकार आज से अधिक प्रसन्न और सुखी था। कहना न होगा कि वह एक दास था और अपने भाग्य को कोसता रहता था।

तत्पश्चात् अग्रेजो ने भारत को स्वर्ण-युग प्रदान किया। वह कैसा था, यह हम सबने अपनी आँखो से देखा है और उसकी छाया आज भी हमारे चारो ओर से हटी नहीं है। आज के चित्रकारो ने भी यह युग देखा है और उनकी आँखो पर उसका प्रमाण अकित है। चित्रकार राजा रविवर्मा इस स्वर्णयुग के प्रवर्तक थे और डा० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के बगाल स्कूल ऑफ आर्ट ने इसकी अन्त्येष्टि क्रिया की। इस प्रकार के स्वर्ण-युग की कल्पना से भी आज का चित्रकार दूर भागना चाहता है। यह है सक्षिप्त रूप से आज के चित्रकार का मनोविज्ञान।

आज का चित्रकार स्वतत्र भारत में साँस ले रहा है। आज वह परिस्थितिवश कला में उससे कही अधिक स्वतन्त्रता का आभास पा रहा है। यदि हम आज के चित्रकार की परिस्थितियो का विश्लेपण करें तो ज्ञात होगा कि चित्रकार आज जितना मुक्त है, पहले कभी न था। आज वह धर्म के प्रपंचो से मुक्त है। राजा-महाराजाओ, सम्राटो, नवाबो की ठकुर-सुहती से मुक्त है और समाज के बधनो से भी मुक्त है। समाज को आज अवकाश नहीं है कि चित्रकार की ओर ध्यान दे सके या उसे जीविका प्रदान कर सके। आज चित्र-

कार अपनी चित्रकला से जीविकोपार्जन भी नही कर पाता, उसे इसके लिए अन्य मार्ग का आश्रय लेना ही पडता है। ऐसी स्थिति में वह अपनी चित्रकला के क्षेत्र में पहले से कहीं अधिक मुक्त हो गया है। उसे समाज की चिन्ता नही है। वह आज चित्रकला में समाज के कन्धे से कन्धा मिला कर चलना नही चाहता, प्रत्युत पूर्ण स्वतत्र होकर समाज पर शासन करने की इच्छा रखता है और नवनिर्माण की कामना करता है। यही स्वतत्रता और नव-निर्माण की कल्पना आज की कला का मूल मत्र है। आज चित्रकार पथगामी नही, प्रत्युत पथ-प्रदर्शक बनना चाहता है, यह है उसका मनोविज्ञान।

नवभारत का स्वतन्त्र चित्रकार केवल एक कारीगर की भाँति कार्य नही करना चाहता, प्रत्युत सर्वप्रथम वह एक दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक की भाँति काम करने का विचार करता है। अपने जीवन-दर्शन को निर्धारित करता है और उसी के अनुसार अपनी साधना का एक लक्ष्य बनाता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु एक सिद्धान्त निश्चित करके एक अभिनव शैली का आविष्कार करता है। वह केवल परम्परा का सहारा नहीं लेना चाहता, अपितु अपनी बुद्धि, विवेक और अनुसन्धान के बल पर कार्य करना चाहता है। इसीलिए आधुनिक चित्रकला में अनेको प्रकार के नये-नये रूप सामने आ रहे है और यही कारण है कि हमें उन्हें समझने में कठिनाई होती है। ज्यो ही हम एक प्रकार की कला की परिभाषा निश्चित करते है त्यो ही उसकी दूसरी परिभाषाएँ बन जाती है, जो सर्वथा भिन्न होती है। वर्तमान युग का यह एक प्रचलन-सा हो गया है कि कला में प्रत्येक चित्रकार एक नये रूप का अनुसधान करता है। इस प्रकार के अनेको रूप यूरोप और वर्तमान भारतीय कला में आविष्कृत होते चले जा रहे है। साधारण व्यक्ति को न इतना ज्ञान है, न इतना अवसर है कि इन नये-नये रूपो को समझ सके अथवा उनका आनन्द उठा सके। उसके लिए आधुनिक चित्रकला एक पहेली-सी बन गयी है।

परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान दिन पर दिन उन्नति की ओर बढ रहा है, यहाँ तक कि आज हम उसके द्वारा रोगियो, विक्षिप्तो, बन्दियो आदि के मनोभावो को समझकर उनका उपचार भी करने लगे हैं। तो क्या हम चित्रकारो के मनो-विज्ञान को समझकर उनके चित्रो को नही समझ सकते? आधुनिक चित्रो के समझने का एक ही माध्यम है और वह है उनका मनोविज्ञान।

वर्तमान चित्रकलागत मनोविज्ञान को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें चित्रकार की स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति पर ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक चित्रकार में निर्माण का सहज ज्ञान सबसे अधिक बलवान् होता है। चित्रकला की सफलता सहज ज्ञान पर ही आश्रित है। वैसे तो प्राय. सभी मनुष्यो में यह शक्ति होती है, पर चित्रकार के अन्त करण में इसका

प्रस्फुटन अत्यावश्यक है। ईश्वर में, जो प्रकृति का स्रष्टा माना जाता है, निर्माण का सहज ज्ञान बहुत बलवान् है। तभी तो क्षण-क्षण में उसकी सृष्टि अपना रूप बदलती रहती है और इसीलिए कहा गया है कि सृष्टि अगम है। इसीलिए ईश्वर एक महान् कलाकार माना गया है। अत' जिस चित्रकार में जितना ही अधिक रचनात्मक सहज ज्ञान होगा वह उतना ही उच्च कलाकार हो सकेगा।

आधुनिक चित्रकला में चेतनकला का स्थान प्रमुख है। आधुनिक चित्रकार कल्पना में पूर्ण विश्वास रखता है। वह उसके सहारे नये रूपो का निर्माण करना चाहता है और वे नये रूप इतने नये हो जो प्रकृति में भी देखने को न मिल सकें। इसीलिए आधुनिक चित्रकला का रूप बहुत ही सूक्ष्म हो गया है।

यूरोप में इस प्रकार की सूक्ष्म-कला का काफी प्रचार हो गया है। पिकासो, हेनरी मूर, मातिस, सेज़ान इत्यादि की कला सम्पूर्ण ससार में विख्यात हो चुकी है। भारत में भी बहुत से चित्रकार आगे आ रहे है, यामिनी राय, जार्ज कीट, आर० एन० देव और राचग् इत्यादि। आधुनिक युग सूक्ष्म चित्रकला का युग है और इस सूक्ष्म चित्रकला की कुजी मनोविज्ञान रहा है। चित्र में क्या बनाया गया है वह इतने महत्त्व का नही है, जितना यह समझना कि चित्र में जो कुछ बना है, वह चित्रकार ने किस मानसिक परिस्थिति में बनाया है। इस मानसिक परिस्थिति का ज्यो ही ज्ञान होता है, दर्शक को उस चित्र में आनन्द मिलने लगता है। इसके लिए दर्शक को रूप और रंग का मनोविज्ञान अवश्य जानना चाहिए, तभी वह आधुनिक मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म-चित्रो का आनन्द ले सकता है।

यहाँ हमारे लिए प्रकृति और कला का भेद समझना आवश्यक है। प्रकृति का रचयिता ईश्वर होता है, परन्तु कला मनुष्य की रचना को कहते हैं। कश्मीर की सुन्दर घाटियाँ, हिमालय का धवल-शिखर, आसाम के अद्भुत वन, अरब सागर का विस्तृत-तट, प्राची का सूर्य, तारो से जगमगाती रातें, चाँद का सलोना रूप यह सब कला नही है, परन्तु आगरे का ताजमहल, भुवनेश्वर के भव्य-मदिर, अजता की गुफाएँ, दिल्ली का किला, दमदम का पुल इत्यादि कलाएँ है और मनुष्य की कला के उदाहरण है।

जिस प्रकार ईश्वर की प्रकृति का अन्त नही है, उसी प्रकार मनुष्य की कला का छोर नहीं। ईश्वर की प्रकृति कल्पना के परे है और यही कल्पना मनुष्य की कला की सीढी है।

आधुनिक कला का विषय

कला का सदैव कोई विषय हुआ करता है। भारत की सारी प्राचीन कला का विषय अधिकतर धर्म, भगवान् के अवतार, उनकी लीलाएँ, देवी-देवताओं के चरित्र, राजा-महाराजा तथा उनके राज-दरबार का जीवन या सामाजिक जीवन इत्यादि रहा है। संसार की सभी कलाओं का विषय धर्म रहा है। इन प्राचीन चित्रों को देखकर यह भावना सहज ही उठती है कि कला का कोई विषय होना आवश्यक है। चित्र में कोई कथा, चरित्र या दृश्य होना चाहिए। भारत में इस शताब्दी के आरभ में बंगाल-शैली की चित्रकला में भी विषय पर बहुत ध्यान दिया गया और इसमें भी अधिकतर विषय धार्मिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक थे।

आजकल धर्म का प्रभाव क्रमश क्षीण होता जा रहा है, क्योंकि धर्म को माध्यम बनाने में अधिक लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। आज का मनुष्य धार्मिक झगडे में पडना उचित नही समझता, न उसके पास समय ही है, यदि वह प्रगति करना चाहता है तो। आज धर्म से अधिक महत्त्व मानव-धर्म को दिया जा रहा है। मनुष्य एक साथ मिलजुल कर किस प्रकार आगे बढ सकता है, यही मुख्य समस्या है। यही कारण है कि धार्मिक चित्रो के स्थान पर सामाजिक चित्रण का प्रचलन बढता जा रहा है। जनता तथा समाज की दृष्टि से भी सामाजिक चित्र का महत्त्व अधिक है। जनता चित्रो में आज की सामाजिक अवस्था देखना चाहती है, परन्तु आधुनिक चित्रकला इधर कुछ वर्षों से इससे भी विमुख होती दीख पड रही है। वह एक नवीन दृष्टिकोण बनाने के प्रयत्न में है, जिसे सूक्ष्म-वाद कहा जा सकता है। इस कला का विषय क्या होता है, यह साधारण दृष्टि से नही समझा जा सकता और यह कहा जा सकता है कि उसमें कोई विषय होता ही नहीं।

चित्रकला में यह सूक्ष्मवाद बडे वेग से फैल रहा है और प्राय· प्रत्येक आधुनिक चित्रकार उसके प्रभाव से बच नही सका है, यदि वह आँख खोलकर कार्य कर रहा है तो। धर्म का बोलबाला तो कम हो ही गया, परन्तु उसके बाद आधुनिक समाज में विकृति भी प्रवेश कर गयी, प्रधानतया पूँजीवाद के कारण। समाज का सुख तथा वैभव धीरे-धीरे उठकर पूँजीपतियो के तहखाने में जमा हो गया। समाज खोखला हो गया, कमजोर हो गया, पस्त

भ्रष्ट हो गया, बुद्धिहीन तथा सौन्दर्य विहीन हो गया। आज का व्यक्ति रोटी के विकट प्रश्न को सुलझाने में जी-जान से लगा है, पर प्रश्न दिन पर दिन उलझता ही जाता है। समाज के पास समय नही कि वह कला की ओर ध्यान दे। उसके जीवन में कला को कोई स्थान प्राप्त नही। कलाकार और उसकी कला समाज पर आश्रित है। कलाकार बेसहारा हो गया। कलाकार जानता है, आज समाज में उसकी कला की कोई पूछ नही है। वह यह भी समझता है कि उसकी कला की क्या शक्ति है। समय के अनुसार कला भी नाना रूप धरकर कुबुद्धि का सहार कर सकती है, यह उसे ईश्वरीय वरदान है। आधुनिक कला और प्रधानतया सूक्ष्म-कला समाज के सम्मुख एक ऐसा ही रूप है और कला का ऐसा रूप तब तक रहेगा जब तक समाज होश में नही आता।

सूक्ष्म चित्रकला में प्राचीन चित्रकला की भाँति विषय नही होता और यदि होता है तो प्राचीन कला से भिन्न। प्राचीन कला का विषय किसी कथा, पुराण या सामाजिक दृश्य या पात्रो के चरित्र से सम्बन्धित होता है, जैसे अजन्ता के चित्र बौद्ध धर्म-कथाओ तथा बुद्ध-चरित्र से सम्बन्धित थे, मुगल-चित्रण दरबारी जीवन से, राजपूत चित्रकला देवी-देवताओ तथा गोपी-कृष्ण के जीवन और समाज से सम्बन्धित थी। सूक्ष्म-कला में वैसा कोई सम्बन्ध नही होता।

सूक्ष्म चित्रकला का रूप वैसा ही शक्तिशाली तथा विराट है जैसा काल्पनिक तथा सत्यरूप प्रलय का हो सकता है। प्रलय का रूप मनुष्य को भयानक लगता है, पर वह सत्य है। प्रलय होता है। प्रलय के समय सारे संसार और ब्रह्माण्ड का सिद्धान्त रद्द हो जाता है। जो न होना चाहिए वही होता है। वह कौन-सी शक्ति है जो कि प्रकृति के नियमो में उलट-फेर कर देती है। भारतीय धर्म के अनुसार यह शिव-ताण्डव है। शिव का ताण्डव कला की अद्वितीय कृति है, और कहा जाता है कि यह नृत्य या कला की कृति, संसार का सहार करने के लिए नही वरन् पुन. सृष्टि करने के निमित्त होती है। सृष्टि का आधार प्रलय या विध्वस है। इसी प्रकार जब चित्रकला तथा अन्य कलाओ का समाज अनादर करता है तो उस समय कला अपना वह रूप धारण कर लेती है, जिससे प्रलय तथा विध्वस और भी पास आ जाता है। कला सभी सिद्धान्तो से विमुख होकर स्वच्छन्द तथा सूक्ष्म हो जाती है, और तभी उसमें प्रलय जैसी शक्ति आ पाती है। ऐसी कला का बहुत महत्त्व है। कलाकार जब मिट्टी की प्रतिमा बनाना चाहता है तो वह भीगी मिट्टी लेकर अपनी कल्पना का साकार रूप उस मिट्टी में देखना चाहता है, परन्तु कभी-कभी लाख प्रयत्न करने पर भी तथा आवश्यक सिद्धान्तो पर चलने पर भी कलाकार उस रूप की प्राप्ति नही कर पाता, जिसकी कल्पना उसने की थी। कलाकार हार नही मानता, वह थोडी देर के लिए खिन्न होकर बनी हुई प्रतिमा को रद्द कर देता है और उसको

फिर मिट्टी का रूप दे देता है, विध्वस करता है और पुन उस मिट्टी को लेकर सावधानी के साथ अपनी काल्पनिक प्रतिमा निर्मित करता है। प्रत्येक कलाकार इस प्रकार के विध्वस या प्रलय का मूल्य जानता है और समय आने पर उसका उपयोग करता है।

आज चित्रकार यह जानता है कि उसकी कला का मूल्य समाज में कुछ नही, पर उसे अपना कर्त्तव्य करना ही है। जिस प्रकार प्रकृति का कार्य नही रुकता, उसी प्रकार कलाकार का कार्य रुकना नही जानता। वह रचना करता जाता है, भले ही उसे उसका मूल्य न मिले और समाज उसकी कला का आदर न करे। जब तक समाज कला का आदर करता है, तब तक कलाकार समाज का भी आदर करता है, परन्तु जब समाज की आँख पर पर्दा पड जाता है या पुतलियाँ ज्योति-हीन हो जाती है तो कला का सर्वप्रथम कार्य होता है उन ज्योति-हीन पुतलियो को नष्ट कर उनके स्थान पर नयी पुतलियाँ बैठाना और उन पर पडे पर्दे को काटकर पुन उन्हें ज्योतिर्मय बनाना। आधुनिक कला ने जो सूक्ष्म रुप अपनाया है उसका कारण यही है कि वह एक बार समाज की आँखो की खोयी ज्योति वापस ला सके। यह समय की पुकार है, इसकी आवश्यकता है।

यूरोप में पिकासो इस सूक्ष्म-कला का प्रवर्त्तक है और उसके हजारो अनुयायी हैं जो निरतर बढते जा रहे है। यूरोप में सभी आधुनिक कलाकार सूक्ष्म-चित्रण में भाग ले रहे है। भारत में भी इस कला का प्रचार हो रहा है।

सूक्ष्म चित्रकला में कलाकार प्रकृति की रचना का रहस्य समझने का प्रयत्न करता है और उसी खोज के आधार पर, उसी से प्रेरणा लेकर स्वय रचना करता है। प्रकृति में नाना प्रकार के रूप, आकार तथा वस्तुएँ पायी जाती है जो अगणित है। प्रकृति के जिन रूपो को तथा वस्तुओ को मनुष्य उपयोगी समझता है उनका नामकरण कर देता है। किन्तु अभी करोड़ो ऐसे रूप तथा वस्तुएँ प्रकृति में बिखरी पडी है और निरतर नये-नये रुप बनते जा रहे हैं, जिनको न अभी मनुष्य जान सका है, न कल्पना ही कर सका है और न उनका नाम ही जानता है। इसी प्रकार सूक्ष्म चित्रकार भी प्रकृति की भाँति सरल रचनात्मक प्रवृत्ति से प्रभावित होकर रचना करता है, नये-नये रूपो, आकारो तथा वस्तुओ को, जिनको पहचाना नही जा सकता। उनका रूप सूक्ष्म तथा नया होता है। देखने में इन चित्रो में अजीब-अजीब रहस्यपूर्ण रूप दिखाई पडते है, जिनको स्वय चित्रकार भी नहीं पहचान सकता, फिर भी चित्रो को देखकर मन में अनेको प्रकार के भाव उमड पडते हैं। दर्शक के मन में, चित्र देखकर, अनायास जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जो प्राचीन चित्रो को देखकर साधारण दर्शक के मन में कभी नही उठती थी, और यही आधुनिक सूक्ष्म-चित्र की सफलता है कि एक बार पुन साधारण दर्शक चित्रो से प्रभावित हो रहा है और उनको

समझने तथा उनका आनन्द लेने के लिए उत्सुक है । इस प्रकार की सूक्ष्म चित्रकला का प्रचार तब तक रहेगा जब तक जन-साधारण पूर्ण रूप से चित्रकला की ओर आकृष्ट नहीं हो जाता ।

सृष्टि का आरम्भ विध्वस तथा प्रलय से हुआ है और क्रमश. सृष्टि में प्रगति होती जाती है । प्रगति अपनी चरम सीमा पर भी पहुँचती है । इसी प्रकार सस्कृति का भी विकास होता है । इस बीसवी शताब्दी में सस्कृति अपनी चरम सीमा पर पहुँचती दीखती है । और यही वह सीमा है, जिसके बाद विध्वस होता है, प्रलय होता है और इसके पश्चात् फिर सृष्टि होती है । इस बीसवी शताब्दी में शायद कला भी अपनी चरम सीमा को पहुँचना चाहती है, इसीलिए चित्र में विध्वस का निर्माण करना आवश्यक हो गया है । पूर्ण रूप से विध्वस का चित्रण होने के पश्चात् पुन. कला-सृष्टि का आरम्भ होगा ।

यह प्रवृत्ति क्रान्तिकारी है और इससे नयी सृष्टि का आरम्भ होता है ।

कला का कार्य

कला और साहित्य समाज के जीवन-दर्पण माने गये है अर्थात् कला का कार्य है अपने समय के सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति करना । इस परिभाषा के अनुसार आधुनिक चित्रकला को वर्त्तमान सामाजिक जीवन का ही चित्रण कहना चाहिए, परतु आज भी भारतीय चित्रकार प्राचीन विषयो पर चित्रण करते है । प्राचीन समय में भारतीय चित्र-कला के विषय अधिकतर धार्मिक तथा ऐतिहासिक होते थे, जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध तथा अन्य देवी देवताओ के जीवन तथा लीला सम्बन्धी चित्र । आज भी भारत में अधिकतर चित्र धार्मिक या ऐतिहासिक बनते हैं, यद्यपि कुछ नये तथा युवक कलाकारो ने इसके विरुद्ध आज के सामाजिक जीवन का चित्रण आरम्भ कर दिया है ।

यदि हम प्राचीन चित्रो के विषय तथा पात्रो के जीवन, रहन-सहन, वेश-भूषा पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि वह जीवन अधिकतर साधारण जीवन से दूर, कुछ दार्शनिक धरा-तल पर, एक वैभवशाली समाज का चित्रण है । भारत में सबसे प्राचीन चित्र अजता के है। अजता की चित्रशाला में जो चित्र अकित है उनमें अधिकतर चित्र राजा-महाराजाओ, राज-कुमारियो के सुनहले जीवन के चित्र है या बौद्ध धर्म से सम्बन्धित सन्यासी जीवन के चित्र। ये दोनो प्रकार के चित्र आज के साधारण जीवन से बहुत दूर है, किन्तु फिर भी भारत में इनका बहुत प्रचार है और बगाल-शैली के चित्रकारो ने तो अपने अधिकतर चित्र उन्ही प्रेरणा पर आधारित किये हैं ।

भारत की अन्य प्राचीन चित्र-शैलियो में भी जैसे जैन, मुगल, राजपूत तथा पहाडी, कला में, उस समय के वैभव तथा चमक-दमक का ही चित्रण मिलता है और विषय भी धार्मिक या ऐतिहासिक होता है। कला की दृष्टि से ये सभी शैलियां प्रशसा के योग्य है और इन्होने समय-समय पर भारत का गौरव बढाया है। आज हम भले ही दूसरे प्रकार की नयी शैलियो को, जो आज के समयानुकूल है, आरभ करें, परन्तु इन प्राचीन चित्रकला-शैलियों का महत्त्व कम नही किया जा सकता ।

ससार का कोई भी दर्शन या सिद्धान्त यह नही कह सकता कि वह अपने देश या समाज के जीवन को सुखी, समृद्धिशाली तथा प्रगतिशील नही बनाना चाहता । ऐसा करने के लिए

देश के दार्शनिक, नेता, साहित्यकार, वैज्ञानिक या कलाकार को अध्ययन करना पडता है, भविष्य की कल्पना करनी पडती है, और नये-नये रास्ते खोजने पडते हैं। जब हम आज के जीवन से सन्तुष्ट नही है, तो अधिक सुखमय या प्रगतिशील जीवन को पाने के लिए हमे अपने भविष्य की कल्पना करनी पडती है। हम जानते है कि आज का भारतीय समाज सदियो से गुलामी में जकडे रहने के कारण विकृत हो गया है, पिछड गया है। यहाँ अविद्या है, गरीबी है, बेकारी है और तमाम खराबियाँ है। आज का भारत इन्ही का प्रतीक-सा हो गया है। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि यदि कला तथा साहित्य अपने समय के समाज के दर्पण है तो उन्हें आज केवल इसी विकृत रूप का चित्रण करना चाहिए। परन्तु इसका परिणाम क्या होगा ? इन चित्रो मे आज के समाज का विकृत, कलुषित रूप देखकर समाज को क्या लाभ होगा ? यही कि वह उन्हें देखकर पछताये या उन्ही को सत्य और सही समझ कर उसी का अनुकरण करे। इससे तो कोई प्रगति नही होगी। समाज जहाँ का तहाँ रहेगा और शायद और भी विकृत हो जायगा। जब तक हम समाज के सम्मुख सही रास्ता नही रखते, उसका पथप्रदर्शन नही करते, उसको सुख-प्राप्ति के नये साधन नही बता सकते, तब तक ऐसी कला, साहित्य या विज्ञान से लाभ ही क्या ?

कला यदि केवल समाज का दर्पण है तो ऐसे दर्पण में वर्तमान समाज अपने कलुषित रूप को ही देख पाता है। परन्तु कला यदि ऐसा ही दर्पण है कि उसे देखकर हम अपने मुह पर लगी कालिमा को तो देख लें, पर उसे दूर करने की विधि, कोई तरीका न प्राप्त कर सकें तो कला को सचमुच एक निर्जीव दर्पण ही समझना है। परन्तु कला और दर्पण में बहुत अन्तर है। दर्पण एक निष्प्राण वस्तु है। इसका कार्य निश्चित है और एक परिधि के भीतर है। दर्पण केवल वही रूप अपने में प्रतिबिम्बित कर सकता है, जो उसके सम्मुख होता है, परन्तु कला ऐसी निर्जीव वस्तु नही है। कला की रचना मनुष्य करता है, मनुष्य कला के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करता है। उसके मस्तिष्क में तथा हृदय में जो कुछ आता है वे सभी विचार और भावनाएँ वह अपने चित्र में अंकित करता है। मनुष्य के विचार और भावनाएँ कभी भी निश्चित परिधि में नही रहती। मन चचल होता है, मस्तिष्क में अनेको प्रकार के विचार आते हैं। कल्पना में अनेको रूप बनते-बिगडते रहते है। चित्र में इन सभी को अंकित किया जा सकता है। दर्पण और कला की क्या तुलना हो सकती है ? यदि कला दर्पण है तो वह दर्पण जो मनुष्य का केवल वर्त्तमान रूप ही नही लक्षित करता वरन् वह कैसा था और उसे कैसा होना चाहिए यह सभी रूप प्रतिबिम्बित करता है, और तभी इसका कोई लाभ है। मान लीजिए हमने दर्पण में अपना मुख पहले कभी नही देखा, और अनजाने में कोई यदि हमारे मुख पर कालिख मल दे और इसके बाद यदि हम दर्पण में अपना मुख देखें तो हमें क्षोभ न होगा, क्योकि हम उसे ही अपना असली रूप समझेंगे

और उस कालिमा को मिटाने का कभी प्रयत्न न करेंगे। यदि कला ऐसा ही दर्पण है, जो समाज को उसका असली रूप नही दिखा सकता, केवल उसका वर्तमान कलुषित रूप ही दिखा सकता है, तो निश्चय ही कला दर्पण की भाँति निर्जीव है, बेकार है। कला का कार्य केवल वर्तमान तथा भूत का ही चित्रण करना नही वरन् उसे भविष्य भी लक्षित करना चाहिए। भूत को देखकर हम यह जान सकेंगे कि पहले हमारा रूप कैसा था, हम किस अवस्था में थे, हमारी प्रगति कहाँ तक हुई थी। वर्तमान को देखकर हम यह जानते है कि हमारा आज का रूप कैसा है। हमारा रूप पहले से खराब है या सुन्दर। भूत तथा भविष्य का रूप देखकर हम अपने वर्तमान रूप में परिवर्तन करने का प्रयत्न कर सकते है। अपने रूप को और भी सुन्दर बना सकते है। यदि कला दर्पण है तो ऐसा दर्पण है जिसमें हम अपने भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो का दर्शन कर सकते है। समाज को यदि दर्पण की आवश्यकता है तो ऐसे ही दर्पण की। केवल वर्तमान रूप प्रतिबिम्बित करनेवाले दर्पण की नही।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि कला भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनो को ध्यान में रखकर ही समाज को प्रेरणा दे सकती है, प्रगतिशील बना सकती है, सुख प्रदान कर सकती है। इसलिए आज के कलाकार के लिए यही आवश्यक नही है कि वह केवल आज के समाज का जैसा रूप है वैसा ही चित्रण करे, वरन् आज के समाज के रूप की और आज से पहले के समाज के रूप की तुलना कर यह जान सके कि आज हमारा रूप सुन्दर है या पहले था। यदि हमारा रूप पहले आज से अधिक सुन्दर था और किसी कारण आज हमारे मुख पर कालिमा लग गयी है तो हमारा सबसे पहला कर्तव्य है कि हम अपनी कालिमा को धोकर साफ कर दें और पहले जैसा सुन्दर मुख प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इसके पश्चात् ही हमें अपने भविष्य के रूप का चिन्तन या कल्पना करनी होगी। बिना ऐसा किये हमारे समाज की गाडी आगे नही बढ सकती, और यदि ऐसा करते है तो हम एक अनिश्चित डावाडोल परिस्थिति के साथ आगे बढने का असफल प्रयत्न करेंगे। इसलिए यदि आज का चित्रकार प्राचीन भारतीय चित्रकला से प्रेरणा लेता है तो यह अनुचित नही है और इसका लाभ भी निश्चित है। इसका तात्पर्य यह है कि आज का कलाकार अपने समाज की परिस्थिति से भली-भाँति परिचित है, वह अपने विकृत समाज के रूप को देखकर चिन्तित है, और इसमें प्रयत्नशील है कि कम से कम वह आज के समाज का रूप उतना सुन्दर तो कर दे जितना पहले था। इसके पश्चात् वह इसकी भी कल्पना करेगा और नये मार्ग खोजेगा जैसा हमे भविष्य में होना है या जिस मार्ग पर चलना है।

सदियो की गुलामी और खास कर पिछले डेढ-दो सौ वर्षों से फिरगियो के अधिकार में

रहने के कारण सचमुच हमारे समाज के मुखपर एक कालिमा लग गयी है और यह हमारा परम कर्त्तव्य है कि उसे धोकर साफ कर डालें, तब आगे बढने का प्रयत्न करे। इस दिशा में स्वतन्त्रता प्राप्त करना हमारा पहला कदम था। भौगोलिक दृष्टि से आज हम स्वतंत्र हैं, परन्तु सामाजिक दृष्टि से अब भी हम परतन्त्र हैं। आज भी हमारे समाज का वही रूप है जो अंग्रेजी आधिपत्य के समय था। अब भी हम उनकी भाषा बोलते हैं, उन्ही के वस्त्र पहनते हैं और अपना वेश बनाये हुए हैं। हम आज भी उनकी नकल करने को तत्पर हैं। इस दृष्टि-कोण से भारत को अभी स्वतंत्रता प्राप्त नही हुई। जब तक हमारा समाज अपने पैरों पर खडा नहीं हो जाता, अपनी बुद्धि का उपयोग नही कर पाता, अपने को पहचान नही पाता तब तक वह गुलाम ही कहलायेगा और हमारी आँख पर पड़े इस पर्दे को यदि आज का कलाकार, साहित्यकार या वैज्ञानिक हटा नही सकता तो वह अपने कर्तव्य से विमुख होता है।

कला की अनेको परिभाषाएँ बनी और बिगड़ी, परन्तु कोई निश्चित परिभाषा आज भी दृष्टि में नही आती। सबसे सरल, सटीक परिभाषा जो आधुनिक युग में ठहरी है, वह कला को संयोजन से सबोधित करती है। किन्ही दो या उनसे अधिक वस्तुओं के संयोजन को कला कहते हैं। संभव है, बहुत से विचारक आज भी इसे स्वीकार न करें, पर यह तो उन्हें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि संयोजन का कार्य सभी कलाओं में निहित है। संयोजन पर सभी कलाएँ आधारित हैं। काव्य में शब्दो का संयोजन, संगीत में स्वरों का संयोजन, नृत्य में मुद्राओं का संयोजन, और उसी भाँति चित्रकला में रूप का संयोजन होता है। संयोजन के विना कला हो ही नहीं सकती। परन्तु यह नही कहा जा सकता कि बिना कला के संयोजन नही हो सकता। संयोजन पहले है, फिर उसे हम कला भले ही कह लें। इसलिए यदि कला को संयोजन कहा जाय तो अनुचित न होगा।

केवल ललित कलाओं में ही नही और दूसरी कलाओं में भी संयोजन के बिना कार्य नही हो सकता। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया में संयोजन होता है। भोजन तैयार करने में उसको तमाम सामग्रियो का संयोजन करना पडता है। भोजन करने में भी उसे हाथ और मुख का संयोजन करना होता है। उठना, बैठना, बोलना, चलना, फिरना, सोचना, पढना-लिखना, कल्पना करना, सभी में संयोजन होना आवश्यक है। यहाँ यह जान लेना अनुचित न होगा कि संयोजन को प्रबन्ध भी कहते हैं और प्रबन्ध हर कार्य में होता है। नक्षत्र, नदी, पहाड़, मैदान का प्रबन्ध, पेड, पत्ती, जीव-जन्तु, प्रत्येक वस्तु, पूरी सृष्टि प्रबन्धित है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु अपना प्रबन्ध करती है। अपनी भूख मिटाने के लिए जंगली जानवर शिकार करते हैं, उनका एक भिन्न ढंग होता है। वे जानवर गुफाएँ खोदकर रहने का प्रबन्ध करते

हैं। पक्षी एक-एक तिनका चुनकर सुन्दर घोसले बनाते हैं। पेड़-पौधे जड़ो से रस खीचकर फूल-पत्तियो तथा फलो से अपने को अलकृत करते है। इस प्रकार यह सयोजन या प्रबन्ध कितना महत्त्व रखता है, यह हम प्रकृति में देख सकते हैं। हमें स्वीकार करना ही पडता है कि हमारे जीवन में पग-पग पर सयोजन या प्रबन्ध की आवश्यकता है। इसके बिना हम कोई कार्य कर ही नही सकते। सारा ससार एक प्रबध के ऊपर आधारित है। और यह प्रबन्ध जिन सिद्धान्ता पर आधारित होगा उन्हें ही हम सृष्टि का रहस्य कह सकते हैं। ऐसे सिद्धान्त होना भी निर्विवाद है। इन सिद्धान्तो को आसानी से समझना मनुष्य की शक्ति से बाहर है, परन्तु इन सिद्धान्तो को समझ लेने पर सृष्टि का सारा रहस्य हमारे सम्मुख प्रकट हो जाता है।

इसी प्रकार मनुष्य सयोजन के सिद्धान्त खोजकर ही निश्चित रूप में कार्य करता है-तभी उसे सफलता प्राप्त होती है। सभी कलाओं के सयोजन के सिद्धान्त है, उन्ही के अनुसार कला की रचना होती है। इन सिद्धान्तो को हम 'सत्य' कह सकते हैं। सत्य अनेक नही हो सकते, इसीलिए सिद्धान्त भी अनेक नही है। सभी कलाओं में एक ही सिद्धान्त है, उनके रूप ऊपर से भले ही भिन्न-भिन्न दिखाई पडते हो। सिद्धान्त क्या है? यह निश्चित करना सरल नही, किन्तु यदि हम रचना करने का अभ्यास करते जायें तो अवश्य ही इन सिद्धान्तो को किसी न किसी रूप में खोज निकालेंगे।

चित्रकला में भी सयोजन करना पडता है और इसको भी हम सयोजन के सिद्धान्तो को खोजने का माध्यम बना सकते हैं। यदि हम सयोजन-सिद्धान्त को जान लें तो हमारा हर कार्य सुचारु रूप से चलेगा, हमारा प्रत्येक व्यवहार सुन्दर और सुदृढ होगा। उसी सिद्धान्त पर हम अपने सारे समाज का सयोजन और सघटन भली-भाँति कर सकेंगे।

सयोजन या प्रबन्ध मनुष्य के प्रत्येक कार्य में होता है। परन्तु सयोजन दो प्रकार के होते हैं—एक चेतन मन-स्थिति में, दूसरा अचेतन मन-स्थिति में। या हम इसे अर्जित या मूलप्रवृत्त्यात्मक कह सकते है। जानवरो, पक्षियो तथा पेड-पौधो का सयोजन मूलप्रवृत्त्यात्मक होता है। बुद्धि से वे सयोजन नही करते, परन्तु मनुष्य बुद्धि से भी सयोजन कर सकता है अर्थात् वह अपने सिद्धान्त के आधार पर भी सयोजन कर सकता है। पशु-पक्षी अपने रहने के स्थान सदैव एक प्रकार से बनाते हैं, परन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि से नाना प्रकार के मकान बनाता है। इसी प्रकार वह और सभी कार्यो को बुद्धि के सहारे करता है, चेतन मन से कार्य करता है या सयोजन करता है। अचेतन मन से जो सयोजन होता है वह उसी प्रकार रूढिवादी है जैसा जानवरो का आदिकाल से आज तक एक प्रकार के ही रहने का स्थान बनाना। परन्तु मनुष्य बुद्धि से अपने प्रत्येक कार्य मे परिवर्तन कर सकता

है। यह उसका एक गुण है। कला में भी मनुष्य की चेतन रचनाओ या सयोजन का सबसे अधिक महत्त्व है। इस प्रकार चित्रकला में हम रूप सयोजन के सिद्धान्तो को सीखते है। इन सिद्धान्तो को सीखकर हम चित्रो का सयोजन तो करते ही है, पर इनका उपयोग उन सभी स्थानो पर हो सकता है, जहाँ रूप-सयोजन करना होता है। यह घर में हमें, घर की वस्तुओ का प्रवन्ध करना सिखाता है, अपने शरीर के वस्त्रो का प्रवन्ध करना, समाज के व्यक्तियो का प्रवन्ध करना सिखाता है। इस प्रकार कला के सिद्धान्तो के द्वारा हम अपने जीवन से सम्वन्धित प्रत्येक वस्तु का सयोजन कर सकते है और अपना जीवन आनन्दमय वना सकते है।

सयोजन का ही दूसरा नाम रचना य निर्माण भी है। कलाओ के द्वारा हम अपने में चेतन निर्माणकारी वृत्ति उत्पन्न करते है। वही मनुप्य कला के पथ पर अग्रसर हो सकता है जिसमें निर्माणकारक या मृष्टिकारक प्रवृत्ति का अश अधिक होता है। कला में निर्माण का जो कार्य होता है वह केवल वुद्धि से ही नही होता। उसके साथ हमारी भावनाओ, मनोवेगो का भी योग होता है। अर्थात् कला के निर्माण में प्रेम की आवश्यकता होती है। हम अपनी रचना को प्रेम करते है, उसके साथ हार्दिक सम्वन्ध स्थापित करते है। जिस वस्तु या भावना को हम चित्रित करना चाहते है, उसका निर्माण करने से पहले उसका हमें आदर करना पडता है, उस वस्तु के जीवन में प्रवेश करना पड़ता है, उसके साथ हृदय वाँधना पडता है, उस वस्तु की भावनाओ में डूवना-उतराना पड़ता है और तव वह वस्तु सहोदर हो जाती है। इस प्रकार कलाओ को प्रत्येक वस्तु से प्रेम करना सीखना पडता है। मान लीजिए चित्रकार घृणा को चित्रित करना चाहे तो पहले घृणा से उसे प्रेम करना होगा। तव ही उसे वह चित्रित कर सकता है। उससे दूर रहकर या घृणा को घृणा की दृष्टि से देखकर वह उसके समीप नही पहुँच सकता, न उसे चित्रित ही कर सकता है। कला हमें प्रेम करना सिखाती है, ध्वस की भावना से हमे वचाये रहती है। कलाकार वृत्तिवाला मनुष्य सृष्टि की प्रत्येक वस्तु से प्रेम करता है। कला हमें प्रेम का पाठ सिखाती है और समाज में कला का प्रचार कर हम प्रेम का प्रचार कर सकते है। हिरोशिमा में एटम वम का नग्न ताण्डव न हुआ होता यदि मनुष्य का हृदय कलाकार का हृदय होता। कला आपस के कलह का एक मात्र उपचार है। यदि प्रत्येक व्यक्ति निर्माण के कार्य में रत हो तो झगडे या आपस में कलह का प्रश्न ही नही उठता। उसे इस दिशा में सोचने का समय ही न होगा, इनकी ओर वह दृष्टिपात भी न कर सकेगा। कला हमें शान्ति, प्रेम तथा एकता के सुन्दर वन्धन में वाँध देगी।

मानसिक विकास

आधुनिक युग को विद्वानो ने मनोवैज्ञानिक युग कहा है । इससे पहले के युग को वैज्ञानिक युग कहा गया था । सचमुच आधुनिक युग में मनोविज्ञान का जितना विकास और प्रचार हुआ उतना किसी विद्या का नही । वैसे तो आज भी विज्ञान अपनी चरमसीमा पर है । परमाणु शक्ति का आविष्कार एक महान् विप्लवी आविष्कार है जिसने सारे ससार को दहला दिया है और इस शक्ति के आधार पर वैज्ञानिक एक नये युग की कल्पना कर रहे है जो मनुष्य के जीवन को कही अधिक विकासोन्मुख कर देगा । परन्तु इस समय उपयोग में मनोविज्ञान सबसे अधिक है । पिछले महायुद्ध के कारण राष्ट्रो की शक्ति का अति ह्रास हुआ । एक दूसरे से लडकर सभी अपनी शक्ति खो बैठे । जब मनुष्य की शक्ति का ह्रास हो जाता है तब उसके सामने यह प्रश्न होता है कि वह किस प्रकार जीवित रहे । उसमें भय अधिक समा जाता है । उसके मस्तिष्क पर आतक छा जाता है । वह मामूली बातो में भी डरने लगता है । परन्तु ऐसे समय में बाह्य शक्ति तथा शारीरिक शक्ति के नष्ट होने पर, अपने जीवन को बनाये रखने के लिए उसे अपनी मानसिक शक्तियो का सहारा लेना पड़ता है । आज एटम बम की चर्चा होती है । एटम बम में वही शक्ति बतायी जाती है जो शिव के ताण्डव में थी । पल भर में एटम बम सारे संसार को तबाह कर सकता है । कहा जाता है, यह एटम बम अब किसी एक के नही, अपितु दोनो विरोधी दलो के पास है । यह भी सब को ज्ञात है कि इस शक्ति से बचने का कोई दूसरा उपाय नही है । परन्तु इसका उपयोग अभी ये राष्ट्र नही कर रहे है क्योकि लोग जानते है कि एटम बम से अधिक शक्ति मनोविज्ञान में है । केवल एटम बम का भय दिखाकर जो काम हो सकता है वह एटम बम के उपयोग से भी नही हो सकता । लोगो का ख्याल है कि युद्ध बन्द हो गया है, परन्तु युद्ध बन्द नहीं हुआ है, युद्ध का रूप बदल गया है । आज भी युद्ध हो रहा है और यह युद्ध मनोवैज्ञानिक युद्ध है । आज की शिक्षा,राजनीति, व्यापार सभी मनोवैज्ञानिक ढग से हो रहे है और आज की कला भी मनोवैज्ञानिक कला हो गयी है । आज मनोवैज्ञानिक कला का जितना प्रचार है, किसी दूसरी प्रकार की कला का नही ।

विज्ञान और मनोविज्ञान दोनो का लक्ष्य मानसिक विकास है। प्राचीन धर्म और दर्शन का भी लक्ष्य मनुष्य का बौद्धिक विकास था। अर्थात् सारे ज्ञान, विज्ञान, विद्याएँ मनुष्य के बौद्धिक विकास की योजना में निरन्तर लगी हुई हैं। इसी प्रकार कला का भी लक्ष्य मानसिक विकास है।

मानसिक विकास दो प्रकार का होता है। एक तो मनुष्य ज्ञान प्राप्त करना ही अपना लक्ष्य बना सकता है और दूसरा प्राप्त-ज्ञान के द्वारा कार्य करता है। इन दोनो में अतर है। इसको भी हम दूसरे प्रकार से कह सकते हैं, कोरा ज्ञान तथा उपयोगी ज्ञान। वैसे तो प्रत्येक मनुष्य को ज्ञान की आवश्यकता है, केवल कोरे ज्ञान की नही बल्कि उपयोगी ज्ञान की भी, परन्तु मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार दोनो में से किसी एक की ओर अधिक झुकता है। दार्शनिक का ज्ञान कोरे ज्ञान की कोटि में आता है, परन्तु वैज्ञानिक तथा कलाकार का ज्ञान उपयोगी ज्ञान होता है। दार्शनिक केवल जिज्ञासु की भाँति ज्ञान का उपार्जन किये जाता है, उसको इसी में आनन्द आता है, अर्थात् उसका ज्ञान अन्तर्मुखी हो जाता है, परन्तु वैज्ञानिक और कलाकार का ज्ञान अन्तर्मुखी नही होने पाता और अगर हो जाय तो वह वैज्ञानिक-निर्माण या कला की रचना कर ही नही सकता। वह ज्ञान को भीतर नही खोजता बल्कि प्रकृति में खोजता है। बाह्य वस्तुओ के द्वारा ही उसे ज्ञान होता जाता है और यह ज्ञान उसे कार्य करने पर ही होता है। वैज्ञानिक अन्वेषण करके ज्ञान प्राप्त करता है और उस प्राप्त-ज्ञान के आधार पर पुन अन्वेषण करता है। यही विधि चलती रहती है। कलाकार का भी यही तरीका है। दार्शनिक एक स्थान पर चुपचाप बैठकर अपने मस्तिष्क में हवाई किले बनाता जाता है और नये-नये ज्ञान की प्राप्ति करता जाता है, परन्तु कलाकार या वैज्ञानिक के ज्ञान का आधार उसके सामने रखी वस्तुएँ है। दार्शनिक का लक्ष्य ज्ञान एकत्र करना है और वैज्ञानिक तथा कलाकार कार्य के द्वारा ज्ञान और ज्ञान के द्वारा कार्य की प्राप्ति करते हैं।

साधारण प्रगतिशील मनुष्य के लिए यह दूसरे प्रकार का मानसिक विकास अधिक हितकर है।

कार्य दो प्रकार के होते है—एक तो स्वाभाविक कार्य और दूसरा मानसिक। स्वाभाविक कार्य में कला नही आती। स्वाभाविक कार्य में मनुष्य को बुद्धि की आवश्यकता नही पड़ती, जैसे रोना, चिल्लाना, हँसना, हाथ-पैर हिलाना इत्यादि। परन्तु कला के कार्य में बुद्धि का प्रयोग होता है। जब हम कोई वस्तु बनाना चाहते है तभी हमें बुद्धि की आवश्यकता पडती है, बिना बुद्धि के रचना का कार्य हो ही नही सकता।

इसलिए हम कह सकते हैं कि रचना का कार्य बौद्धिक है। कला सर्वप्रथम मानसिक है या कला एक मानसिक गुण है।

वैसे तो मनुष्य में जन्मजात प्रतिभाएँ होती हैं जिनके कारण मनुष्यो के कार्यो में अन्तर पड जाता है, परन्तु यह अन्तर साधना के प्रयोग से भी पड सकता है जिसका इस ससार में अधिक महत्त्व है। साधना के द्वारा मनुष्य अपने कार्य की क्षमता बढा सकता है। साधना और साधारण आदत में बहुत अन्तर है। जैसे एक मनुष्य शराब पीने की पक्की आदत बना लेता है, परन्तु शराब पीने में साधना की आवश्यकता नही है। शराब का सम्बन्ध या आदत का सम्बन्ध केवल शारीरिक भी हो सकता है, परन्तु साधना का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। साधना का कार्य बिना मस्तिष्क के हो ही नही सकता, परन्तु आदत का हो सकता है। साधना में मनुष्य को आत्मशक्ति का सहारा लेना पडता है तब साधना हो पाती है। साधना के द्वारा केवल कार्य-शक्ति नही बढती बल्कि मानसिक शक्ति का विकास भी होता है। किसी भी कार्य को भली-भाँति करने के लिए साधना की आवश्यकता है, कला स्वय साधना है जो मानसिक विकास का आधार है। यह साधना मनुष्य का वह गुण है जिस के द्वारा वह जीवन में आनन्द की प्राप्ति कर सकता है, अपने जीवन को सुखी बना सकता है।

यह गुण प्रत्येक कर्मशील प्राणी के लिए आवश्यक है जिसके आधार पर वह अपने कार्य में सफलता तथा सुन्दरता प्राप्त कर सकता है, क्योकि कार्य करने का तरीका, कार्य करने-वाले की शक्ति का द्योतक है और मनुष्य की रचना मनुष्य स्वय है। मनुष्य जो कुछ भी रचना करता है उसमें उसके व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया उतर आती है जिसे देखकर उसके रच-यिता का बोध होता है। सृष्टि का रचयिता ईश्वर समझा जाता है। ईश्वर का साक्षात्कार करना इतना सरल नही, परन्तु ईश्वर की रचना-सृष्टि का निरीक्षण कर उस ईश्वर की कल्पना की जा सकती है। सृष्टि ईश्वर का गुण है। इसी प्रकार कला का स्वरूप भी चित्र-कार का स्वरूप है। इसलिए कलाकार अपनी रचना में सफलता पाने के लिए साधना करता है और उस शक्ति के आधार पर रचना करता है। साधना मस्तिष्क का गुण है, इस प्रकार साधना से मनुष्य के मस्तिष्क का विकास होता है, उसकी मानसिक शक्तियाँ बढती हैं। हम कह सकते हैं—कला के द्वारा मानसिक शक्ति का विकास होता है।

सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए विद्वानो ने कहा है—"परमात्मा सौन्दर्य है", वह सौन्दर्य का स्रोत है। जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय है और दूसरो को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ससार में कलाकार का स्थान भी समझा जाता है। जब तक कलाकार में सौन्दर्य नही होगा, वह दूसरो को सौन्दर्य कैसे प्रदान कर सकता है? जब तक वह स्वय गुणी नही है, उसकी

रचना में गुण कहाँ से आ सकता है ? इसलिए कलाकार अपनी साधना से गुणो को अपने में सञ्चित करता है। स्वय गुणी होकर अपने गुणो का अपनी कला द्वारा प्रकाशन करता है। इसलिए यह सत्य है कि कला की साधना से मनुष्य अपने में गुणो को एकत्र करता है, उसका मानसिक विकास होता है, उसका व्यक्तित्व निखरता है।

पिछले युगो में दर्शन तथा विज्ञान का अति विकास हुआ। दर्शन-युग तथा धर्मयुग के बाद वैज्ञानिक युग का प्रादुर्भाव हुआ। इस युग के बाद यह आधुनिक युग मनोविज्ञान का युग कहा जाता है। मानसिक विकास की ये सीढियाँ कही जा सकती हैं। मनुष्य के मस्तिष्क का विकास तीन दिशाओ में होता है—१ दर्शन का आधार, विचार तथा कल्पना है, २. विज्ञान तथा मनोविज्ञान का आधार, अनुभव या प्रयोग है, ३. कला इन दोनो को आधार मानकर उसके ऊपर कार्य करती है, रचना करती है जिसका आधार रचनात्मक बुद्धि है। इस प्रकार कला का कार्य करके मनुष्य सभी दिशाओ में अपने मस्तिष्क का विकास कर सकता है। आज हमें कोरे दार्शनिक ज्ञान तथा विज्ञान के अनुभव ज्ञान की ही आवश्यकता नही है बल्कि उसके आगे जो रचनात्मक ज्ञान है जिसके लिए विज्ञान और दर्शन केवल सहायक मात्र है, हमारे भविष्य के लिए अति आवश्यक है। इसीलिए यदि हम भविष्य की कल्पना करते हुए कहें कि अगला युग जो हमारे सम्मुख है, कला युग है तो अनुपयुक्त न होगा। इस प्रकार कला-पथ ग्रहण कर हम अपने मानसिक विकास में वृद्धि कर सकेंगे।

कला-धर्म

धर्म के प्रभाव के बदले आधुनिक ससार में धर्म का अभाव अधिक बलवान् होता जा रहा है। कहा जा सकता है कि आधुनिक ससार प्रगति की ओर न जाकर अवनति की ओर जा रहा है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान हमें यही बताता है कि हमारी प्रगति हो रही है। प्राचीन समय में धर्म के ऊपर मनुष्य का जीवन आधारित था, आज जीवन का आधार विज्ञान है। धर्म भी मनुष्य को सुखमय जीवन व्यतीत करने का मार्ग दिखाता था और विज्ञान भी यही प्रयत्न कर रहा है। लक्ष्य एक ही है, केवल मार्ग भिन्न है। धर्मो का जब प्रादुर्भाव हुआ था तब भी ससार में केवल एक धर्म नही था। विभिन्न प्रकार के धर्म रहे हैं, जैसे—वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सिक्ख धर्म, मुस्लिम धर्म, पारसी धर्म तथा ईसाई धर्म, इत्यादि। अर्थात् सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिए धर्मो के रूप में मनुष्य के सम्मुख अनेक मार्ग रखे गये। इसी प्रकार विज्ञान भी एक मार्ग है और यदि इसे भी एक धर्म कह दिया जाय तो बहुत आपत्तिपूर्ण नही है। धर्म और विज्ञान में यदि अन्तर है तो केवल इसका कि एक रहस्य को सत्य मानकर ईश्वरमें अधिक विश्वास करता है और दूसरा रहस्य का उद्घाटन करते हुए सत्य की खोज में लगा है। वैसे तो धर्म मे भी सत्य का बहुत महत्त्व-पूर्ण स्थान है, पर एक सत्य में विश्वास कर चुका है, दूसरा सत्य को खोज रहा है। दोनो ही धर्म मनुष्य के जीवन को सुखी बनाना चाहते है, यह तो कोई इनकार नही कर सकता। धर्म भी कलाओ का प्रचार चाहता था और विज्ञान भी कला के महत्त्व को मानता है और उसकी सहायता के लिए अपना ज्ञान देना चाहता है।

प्राचीन समय में धर्म मार्ग होते हुए भी लक्ष्य के रूप में था। मनुष्य का लक्ष्य धर्म को प्राप्त करना था। धर्म के लिए ही मनुष्य को प्रत्येक कार्य करना पडता था। धर्म का स्थान प्रमुख था। मनुष्य के सारे कार्य तथा शक्तियां धर्म की प्राप्ति में सेवक की भांति थी। इसी प्रकार कलाएँ भी। कलाओ का भी लक्ष्य धर्मप्राप्ति था। कलाएँ धर्म के लिए थी। धर्म पहले था, कला बाद में। धर्म के प्रचार में कलाएँ रत हुई। सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय कला का कार्य धर्म का प्रचार करना रहा, चाहे ब्राह्मण-कला हो, बौद्ध-कला हो या जैन-कला।

आज इस बीसवी शताब्दी में आकर चित्रकला को धर्म की सेवा से छुटकारा मिलता दृष्टिगोचर होता है। परन्तु आधुनिक यूरोपियन कला धर्म से प्रभावित न होते हुए भी विज्ञान से अधिकाधिक प्रभावित हुई और उसका असर कुछ अंश में भारत की चित्रकला पर भी पड़ा। धर्म की सेवा छोड़कर कला ने विज्ञान की सेवा करना आरम्भ किया, परन्तु बहुत थोड़े ही समय में कला ने विज्ञान को भी झटका दे दिया। आधुनिक कला ने वैज्ञानिक सत्यों को भी ताक पर रखना प्रारम्भ कर दिया है और कला स्वयं एक धर्म बन गयी है। जिस प्रकार धर्म तथा विज्ञान मनुष्य के जीवन को सुखी और आनन्दमय बनाना चाहते है, उसी प्रकार अब कला स्वय यही कार्य करने को उद्यत है। कला अब दूसरे का सहारा नही लेना चाहती बल्कि स्वय शक्तिशाली बनना चाहती है। कला स्वय एक धर्म है। धर्म का युग बीता, विज्ञान का युग बीत रहा है और कला का युग सामने है। धर्म के अभाव पर और विज्ञान के प्रभाव पर हमने ससार को अवनति की ओर जाते समझा। विज्ञान के युग का लाभ उठाकर हमने उसे भी देख लिया, अब कला के युग की आशा है। क्या विज्ञान के प्रभाव को कम होते देखकर कला के युग की ओर जाते हुए भी हम कह सकेंगे कि हम अवनति की ओर जा रहे है? शायद नही। इसलिए अब हमें धर्म और विज्ञान के झझटो या झगडो में नही पड़ना है। बल्कि इस नये युग कला-युग की कामना करनी है, जो हमारे सम्मुख जीवन का एक नया और उज्ज्वल मार्ग रखता है और मंगल भविष्य की कामना करता है। हम अवनति की ओर नही, प्रगति की ओर जा रहे हैं।

कला और समाज

मनुष्य ससार में आते ही यह अनुभव करता है कि उसके सम्मुख दो वस्तुएँ हैं—एक वह स्वय, दूसरा उसके अतिरिक्त यह पूरा संसार। अत ससार में आकर वह जो कुछ भी करता है, उसका सम्बन्ध इन्ही दोनो से रहता है। इसे हम यो समझा सकते हैं कि ससार में दो पक्ष हैं एक मनुष्य और दूसरे उसके अतिरिक्त और सभी पदार्थ। इन दोनो पक्षो का सम्पर्क तथा सघर्ष सदैव चलता रहता है। इसमें सभी प्राणियो को फँसना पड़ता है। इस प्रकार यह समझना आवश्यक हो जाता है कि ये दोनो परस्पर एक साथ कैसे रह सकते हैं। इसके लिए कई मार्ग हो सकते हैं। एक तो यह कि प्राणी ससार के अनुसार चले या कार्य करे, दूसरा यह कि वह ससार के विपरीत चले, तीसरा यह कि अपनी शक्ति से संसार को अपने मार्ग पर चलने को बाध्य करे, चौथा यह कि वह स्वत भी चलता जाय और औरो को भी चलने दे, या स्वत न चले और ससार को भी न चलने दे, या स्वय अपने चले संसार को न चलने दे। इनमें से मनुष्य कोई भी मार्ग चुन सकता है और उसी के अनुसार कार्य कर सकता है। पर यह सत्य है कि वह और उसके अतिरिक्त संसार दोनो हैं। एक नही, दो हैं।

प्रत्येक मनुष्य उपर्युक्त मार्गों में से कोई न कोई मार्ग अवश्य अपनाता है, उसी के अनु-सार चलता है या कार्य करता है और वैसा ही उसका व्यक्तित्व बनता है। ये मार्ग संसार के प्रत्येक कार्य में प्रयुक्त होते हैं। कला भी एक कार्य है और उसमें भी यही मार्ग हैं। इन सभी का लक्ष्य आत्मिक सुख या आनन्द है। इनमें से किसी को भी अच्छा या बुरा नही कहा जा सकता क्योकि ये सभी मार्ग हैं। किसी को कोई प्रिय लगता है, किसी को कोई। इसलिए यह निर्धारित करना कि कला का क्या मार्ग होगा अत्यन्त कठिन है। आत्मिक सुख लक्ष्य है, और यह इनसे प्राप्त हो सकता है। परन्तु यदि हम यह विश्वास करते हैं कि दो नही एक हैं, तो हमारी समस्या बहुत ही सीधी हो जाती है अर्थात् यदि हम यह विश्वास करते हैं कि मनुष्य अकेले कुछ नही है, उसमें और उसके अतिरिक्त वस्तुओ में कोई अन्तर नही है, या वे दोनो एक ही हैं तो सब झगडा समाप्त हो जाता है, मार्ग सुगम हो जाता है। ऐसी स्थिति में एक ही मार्ग हो सकता है। वह है—एक और दो में सामंजस्य स्थापित

करना, अर्थात् हममें और उसमें अभिन्नता का बोध करना। जब हम और वह एक है तो हमारा पथ भी एक ही है। यही पथ कला का भी होगा अर्थात् कला भी एक और दो के भेद को मिटाने का कार्य करेगी। सुविधा के लिए एक के अर्थ में हम व्यक्ति को समझेंगे और दो के अर्थ में समाज को।

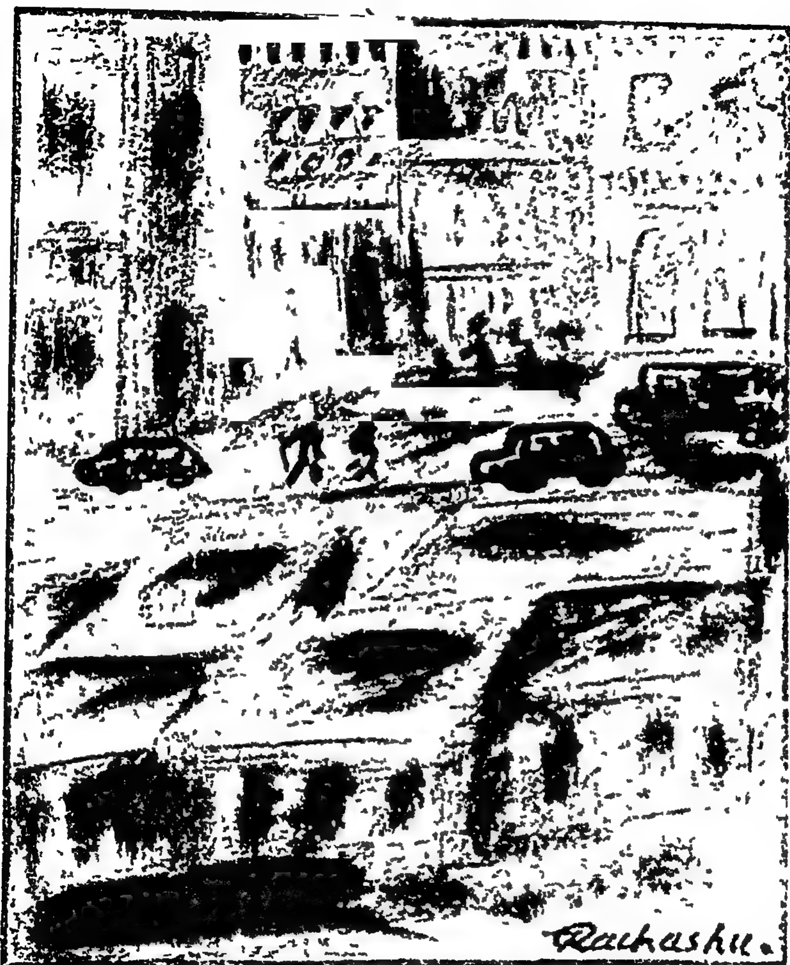
कला का कार्य व्यक्ति और समाज में एकता लाना है। व्यक्ति और समाज को परस्पर समीप लाना है। इसी कार्य के लिए ससार में भाषाओ की उत्पत्ति हुई, जिनमें से कला भी एक है।

व्यक्ति ससार में स्वत. के किये हुए अनुभवो से लाभान्वित होता है। उन अनुभवो से वह दूसरो को भी लाभान्वित कराना चाहता है, इसलिए वह कला की भाषा के माध्यम से दूसरो तक अपने अनुभवो को पहुँचाता है। उसके अनुभव से तभी लोग लाभ उठा सकते है, जब वह एक ऐसी भाषा द्वारा उसे व्यक्त करे जो सभी सरलता से समझते हो। यदि ऐसी कोई भाषा नही है तो उसका निर्माण करना आवश्यक है। आज जितने देश है, जितने प्रदेश है उतनी ही भाषाएँ है। कोई जर्मन भाषा बोलता है तो कोई अंग्रेजी, कोई फ्रेंच तो कोई लैटिन। ऐसी विषम परिस्थिति में उभय पक्षो में एकता या सामजस्य कैसे स्थापित किया जा सकता है ?

चित्रकला भी एक भाषा है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने को व्यक्त करता है। आज इस भाषा का कोई निश्चित रूप नही है। इस भाषा के नित्य नये रूप सामने आते है। यही कारण है कि सारा समाज इससे लाभ नही उठा पाता। आधुनिक चित्रकला से इने-गिने व्यक्ति ही लाभ उठा पाते है या आनन्द ले पाते है। जब-तक चित्रकला की भाषा का एक निश्चित रूप न होगा और जब तक समाज में उसका प्रचार भली-भाँति न होगा, तब तक चित्रकला का लक्ष्य सिद्ध न होगा। प्रत्येक आधुनिक कलाकार के सामने यह समस्या आज भी है और पहले भी थी। इतिहास से ज्ञात होता है कि प्राचीन कला में कला की भाषा का ऐसा रूप था जिससे पूरा समाज लाभ उठा पाता था। उस समय कला का प्रचार भी अधिक था, समाज की परिस्थिति भी अच्छी थी। इस प्रकार देखने से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में कला की भाषा सुगम थी। आज यदि हम उसी को आधार मानकर अपनी भाषा को प्रौढ बनाने का प्रयत्न करे तो हम अधिक सफल हो सकेंगे। इसीलिए बहुतो का परम्परा में विश्वास होता है।

समाज की कार्यप्रणाली को ही परम्परा कहते है। आज से पहले जो कार्य-प्रणाली समाज में थी उसे ही आज हम परम्परा के नाम से समझते या संबोधित करते है। परम्परा

आभासात्मक यथार्थवादी चित्र



ा अर्थ यह नही कि आज से सहस्र वर्ष पूर्व जो कार्यप्रणाली थी केवल वही परम्परा है, कन
क के बीते हुए घटनाचक्र को भी हम परम्परा ही कह सकते है जिसे समझने पर हमें तब
ौर अब के समाज की वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान हो जाता है। समाज की वास्तविक
रिस्थिति को समझकर ही हम उन्नति करने को आगे बढ सकते हैं। कलाकार का यह
र्तव्य है कि वह इस परम्परा से अपने को भली-भाँति परिचित कराये ताकि उसे समझकर
ह अपने अनुभवो को सरलतापूर्वक समाज के सम्मुख व्यक्त कर सके। इसका तात्पर्य यह
ा कि कला में परम्परा का दर्शन होना आवश्यक है। ऐसा होने से ही समाज में हमारा
ति निकट सम्पर्क स्थापित हो सकता है अर्थात् हम अपने अनुभवो को अधिक सरलता-
क समाज के सम्मुख रख सकते हैं।

भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह होनी चाहिए कि वह समाज के अधिक से अधिक
णियो की भाषा हो या वे उसे समझ सकें। तभी तो हम समाज और व्यक्ति में सामजस्य
पित कर सकेंगे। कला का रूप, उसकी भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सर्वग्राह्य हो सके।
प्रश्न उठता है कि ऐसी चित्रकला कौन-सी हो सकती है जिसके रूप का अर्थ और उसके
ा व्यक्त किये हुए भाव समाज के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँच सकें? इस प्रश्न का उत्तर
के लिए चित्र के तत्त्वो का विवेचन कर लेना चाहिए। चित्र की भाषा के तत्त्व रग,
और रेखाएँ हैं। रग, रूप, रेखा ही ऐसे माध्यम हैं जिनके द्वारा हम किसी चित्र का
समझते हैं। किन्तु रग, रूप, रेखा स्वय कुछ नही हैं। वे चिह्न या प्रतीक मात्र है,
के द्वारा भाव-प्रकाशन होता है। कविता में शब्द कुछ नही है, केवल भावो के प्रतीक
उसी प्रकार सगीत में भावो के व्यक्त करने के प्रतीक स्वर हैं। यदि प, ति, त, अक्षर
लिखा हो तो केवल इन अक्षरो का कोई अर्थ नही होगा, परन्तु 'प ति त' मिलकर पतित
ाता है। इससे भाव की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार केवल स्वर का कुछ अर्थ नहीं
। कई स्वर मिलकर भाव उपस्थित करते है। ठीक ऐसे ही चित्र में लाल रग का
अर्थ नही, उसके साथ यदि एक सूर्य का गोला हो जाय तो वही सूर्य की लाली या धूप
त करता है। अर्थात् प्रत्येक कला प्रतीको के द्वारा व्यक्त होती है। इसलिए चित्रकला
समाज तक पहुँचाने के लिए ऐसे प्रतीको की खोज करनी पडेगी जिनका भाव समाज
-भाँति समझ सके।

ाहित्य के क्षेत्र में साहित्यकार या कवि जानता है कि प, ति, त तीनो को मिलाकर
बनता है और वह उसका भाव भी समझता है। जो समाज हिन्दी भाषा पढ़ता हैं
ी 'प ति त' (पतित) के भाव को समझता है। परन्तु चित्र-कला के क्षेत्र में ऐसा नहीं
नीला, पीला और लाल मिलकर चित्र में क्या भाव पैदा करेंगे, यह न तो अधिकतर

चित्रकार को ज्ञात है न उसके दर्शक को। साहित्य में लाल रंग कहने से केवल वर्ण का वोध होता है, पर चित्रकला में लाल केवल वर्ण मात्र ही नही है वरन् क्रोध, लोलुपता इत्यादि मनोवेगों तथा उद्वेगो का भी द्योतक है। साहित्य में रेखा केवल रेखा है, पर चित्रकला में विभिन्न प्रकार की रेखाएँ विभिन्न उद्वेगो को व्यक्त करती है। यही वात रूप के साथ भी है।

चित्र की भाषा का भली-भाँति अध्ययन करके हम अपने अनुभवो को चित्र द्वारा समाज के सम्मुख रख सकते है। मान लीजिए, एक मनुष्य समाज द्वारा सताया गया है तो समाज के प्रति जो उसकी कटु भावनाएँ है उन्ही को वह अपने चित्र में स्थान देगा। इसी प्रकार चित्रकार भी अपना जो अनुभव या अपनी जो भावना समाज के सामने रखता है उसका उत्तरदायित्व समाज पर है और इसलिए समाज को उसका अनुभव स्वीकार करना होता है। व्यक्ति समाज की देन है, वह समाज का एक अग है और वह जो कुछ भी करता है उसका उत्तरदायित्व समाज पर है। आधुनिक चित्रकार जो कुछ भी कर रहा है, जैसे भी चित्र वना रहा है उसका कारण समाज है, फिर समाज उसकी कला को स्वीकार क्यो नही करता ? पर नही, समाज उसे अंगीकार करने से मुँह मोडता है अर्थात् समाज को स्वय अपने से ही घृणा है। यह है आधुनिक समाज की स्थिति। इस प्रकार तो धीरे-धीरे समाज क्षीण हो जायगा। परन्तु नही, व्यक्ति और उसकी कला का ध्येय समाज में तथा व्यक्ति में सामंजस्य लाना है। यदि इसमें वह सफल होता है तो समाज को आगे वढना ही होगा और यही होता है। व्यक्ति अपने में इतनी शक्ति संग्रह करता है कि वह समाज को अकेले खीच ले जाता है। ऐसा ही पुरुष महा-पुरुष कहलाता है। इस प्रकार कला और कलाकार का यह भी धर्म है कि वह समाज को अपनी शक्ति से प्रगति की ओर खीचे, समाज को घृणित तथा कुरूप होने से वचाये।

किसी भी कला के साधारणतया दो दृष्टिकोण हुआ करते है—एक तो कला की रचना और दूसरा उसका सामाजिक महत्त्व। कला की रचना का सम्वन्ध कलाकार से है। वह आत्म-अभिव्यक्ति के हेतु रचना करता है, अपनी सहज क्रियात्मक शक्ति के वल पर। रचना के वाद उसकी कृति समाज के सम्मुख आती है और यहाँ समाज की प्रतिक्रिया का कार्य आरम्भ होता है। जितना महत्त्व रचना का है उतना ही इस प्रतिक्रिया का भी है। इस प्रतिक्रिया के वल पर उस रचना का सामाजिक मूल्याकन होता है, जिसका आधार सामाजिक रुचि है।

आधुनिक कलाकार इस रुचि को न अधिक महत्त्व देता है, न इससे भयभीत होता है। वह केवल अपनी रुचि पर ही निर्भर करता है। किंचित् आधुनिक कलाकार की इस मनो-

वृत्ति को हम कल्याणकारी न समझें और इसका निरादर करे, पर बात सही है। हम इस पर विचार कर सकते हैं कि ऐसा क्यों, और इसका उत्तर भी सरलता से जान सकते हैं, परन्तु कलाकार की रुचि का महत्त्व हम कम नही कर सकते। साधारणतया हमें अपनी रुचि तथा कलाकार की रुचि में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, परन्तु इसी भिन्नता में जब हम एकता खोज पाते हैं तभी हमें आनन्द होता है, यद्यपि ऐसा हम कम ही कर पाते हैं।

वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति की रुचि भिन्न हो सकती है, पर कलाकार की रुचि में हम भिन्नता पाने पर उसे असाधारण समझते है, उसकी रुचि का निरादर भी करने को उद्यत हो जाते हैं। यही है द्योतक हमारे विकृत समाज की मनोवृत्ति का। किसी कला-कृति के सम्मुख होने पर हम प्रश्न करते हैं ऐसा क्यो ? और बस खत्म हो गया उसका आनन्द। अधिक से अधिक हम उस कलाकार की मनोवृत्ति तथा उसके विचारो को समझने की चेष्टा कर लेते हैं, पर फिर भी हमारी और उ की रुचि में भिन्नता रह ही जाती है और कला के आनन्द से हम वचित रह जाते हैं।

जिस प्रकार समाज कलाकार की रुचि की अवहेलना नही कर सकता, उसी प्रकार कलाकार समाज की रुचि की अवहेलना नही कर सकता। कला का कार्य अभिव्यक्ति है, और उसका भी उपयोग है, इसलिए जिनके लिए इसका उपयोग है, उनकी मनोवृत्ति और रुचि को समझना भी कलाकार के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

व्यक्ति की रुचि का इतना महत्त्व है कि इसी से उसका व्यवहार तथा आचरण बदल जाता है, या भिन्न प्रकार का हो जाता है। इस रुचि का आधार क्या है, यही एक विचारणीय प्रश्न है।

कुछ विद्वानो का मत है कि रुचि भी अन्य सहज शक्तियो की भाँति मनुष्य में जन्मजात पैदा हो जाती है। अर्थात् यह कहना कि रुचि हम बनाते है, निराधार है। रुचि हम बनाते नही बल्कि पाते हैं। अगर यह मान भी लिया जाय तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रारम्भ में जैसे ही बालक पैदा होता है उसके सम्मुख निर्मित एक अजीब वातावरण उपस्थित हो जाता है, जिसका प्रभाव आरम्भ से ही उस पर पडता है, और वही उसकी रुचि को ढालता है। जिस प्रकार पिघले मोम को साँचे में डालने से मोम का एक दूसरा रूप बन जाता है, उसी प्रकार जीव समाज के वातावरण में पलकर उसी के अनुसार ढलने लग जाता है। अर्थात् मनुष्य के जीवन में उसका वातावरण बहुत ही असर रखता है। जैसा वातावरण मिलता है वैसी ही प्रकृति या रुचि मनुष्य की बन जाती है। ऐसा अक्सर देखा गया है कि भेड़िया या कोई जंगली जानवर मनुष्य के एक अल्पायु शिशु को उठा ले गया और उसे अपने बच्चो के बीच छोड दिया और वह उसी वातावरण में पला और बड़ा हुआ। ऐसे

वालक की सारी रुचि का परिवर्तन हो जाता है, वह भी भेड़ियो की भाँति व्यवहार करता है, उसी तरह चलता-फिरता है, बोलने का प्रयत्न करता है, खाता है, पीता है । वह भेडियो की भाँति जानवरो का मास तक कच्चा खाने लगता है । अर्थात् जैसा सम्पर्क मनुष्य को मिलता है वैसी ही उसकी रुचि वनती जाती है । इसी प्रकार रुचि की प्रतिक्रिया कला के वारे में भी प्रत्येक व्यक्ति की वनती है । शहर के एक रईस अपने को कला-रसिक समझते हैं, ' योकि उनके स्वर्गीय पिताजी को कला से वहुत प्रेम था । उनके पिताजी जव जीवित थे तो सदैव 'राजपूत कला' की खोज में रहते थे, वहुत से चित्र खरीदा करते थे और इकट्ठा करते थे, क्योकि श्रद्धेय पिताजी को यह पसन्द था, शहर के यह रईस भी राजपूत चित्रकला को वहुत पसन्द करते है । उनको कोई और दूसरी कला अच्छी ही नही लगती । उनको राजपूत कला के लिए प्रेम उत्पन्न हो गया है । समझते कुछ नही ।

देश के एक सर्वप्रिय नेता को गुलाव का फूल वहुत पसन्द है, इसलिए हम गुलाव को भारत का सर्वश्रेष्ठ पुष्प समझते है । उसका रूप, रग सभी हमें वड़ा रुचिकर लगता है । अर्थात् यह आवश्यक नही है कि वस्तुओ के प्रति हमारी प्रतिक्रिया सीधे इन्द्रियजन्य ज्ञान पर आधारित हो, वल्कि वहुधा हमारी प्रतिक्रिया उद्वेग-जनक और सांसर्गिक होती है । हम वस्तुओ का आनन्द सीधे नही प्राप्त करते या कर सकते, वल्कि उन वस्तुओ के साथ हम किसी दूसरी वस्तु का ससर्ग स्थापित करते है और क्योकि यह दूसरी वस्तु हमें प्रिय थी इसीलिए यह वस्तु भी हमें रुचिकर प्रतीत होने लगती है । कला-रसिक उपर्युक्त शहर के रईस को अपने पिता पर श्रद्धा है, इसलिए उनको उन सभी वस्तुओ में रुचि दिखाई पडती है, जो उनके पिता को पसन्द थी । अग्रेजी में कहावत है – "प्रेमी अपनी प्रेयसी को तो प्यार करता ही है, पर उसके कुत्ते को भी उतना ही प्यार करता है ।' हमें विल्ली इसलिए पसन्द है क्योंकि हमारी प्रेयसी भी सदा गोद में विल्ली लिये रहती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुओ का आनन्द हम कम लेते है, वल्कि उस वस्तु के द्वारा, क्योकि हमें किसी दूसरी वस्तु की याद आती है, इसलिए उस वस्तु को भी हम पसन्द करते हैं । अर्थात् हम वस्तुओ का सासर्गिक मूल्याकन ही करते है । इसी प्रकार कला के मूल्याकन में भी सासर्गिक मूल्याकन को ही हम अधिक महत्त्व देते हैं । समाज का एक व्यक्ति, जो राम-भक्त है, यदि अकस्मात् किसी चित्र-प्रदर्शनी में पहुँच जाय, जहाँ चित्रकार ने एक भी ऐसा चित्र नही वनाया है जो रामचरित्र से सम्वन्धित हो, तो इन महाशय को वहाँ का एक भी चित्र पसन्द न आयेगा, क्योकि ये तो चित्र में राम का होना आवश्यक समझते है । अर्थात् यह चित्रकला नही पसन्द करते हैं राम को पसन्द करते हैं । चित्र से प्रभावित नही होते, राम से प्रभावित होते है । इसी प्रकार व्यक्तिगत रुचि वहुतो की हुआ करती है, परन्तु ऐसी रुचि से कला का कोई सम्वन्ध नही । कलाकृति में स्वयं गुण होता है । इसी गण में रुचि लेना आवश्यक है ।

जिस मनुष्य में कला के प्रति रुचि तथा रसास्वादन करने की क्षमता नही है वह कला का आनन्द प्राप्त ही नही कर सकता और यह भी सत्य है कि हजार में शायद एक व्यक्ति मिले जो अपने में यह दोनो क्षमता न समझता हो। तब हमारे समाज में कला का महत्त्व क्यों नही है, समझ मे नही आता। परन्तु उपर्युक्त पक्तियो को अगर हम ध्यान मे लायें तो ज्ञात होगा कि हममें रुचि तो है, परन्तु उसका रूप विकृत हो गया है। उसका रूप इतना विकृत है कि यदि हम इस रुचि को अरुचि से सम्बोधित करे तो बुरा न होगा या हम इसे कलुपित रुचि कह सकते हैं।

इसका मुख्य कारण हमारी मानसिक तथा हार्दिक जटिलता है। न हमारा मस्तिष्क ही शुद्ध है, न हृदय ही। सच कहा जाय तो आज के युग में हृदय के गुणो का कार्य ही नही होता। जिस प्रकार कुएँ से पानी खीचना जब काफी दिनो तक बन्द रहता है तो उस कुएँ के स्रोत सूख जाते है, या बन्द हो जाते हैं, उसी प्रकार हमारे हृदय के स्रोत सूख चुके है, उनमें अपना कार्य करने की क्षमता ही नही रह गयी। जब मनुष्य का व्यवहार अति मानसिक या मशीन की भाँति हो जाता है, तब हृदय की भी यही स्थिति होती है। आधुनिक समाज यूरोपीय मशीन-युग से प्रभावित है, और यह स्थिति उसके फलस्वरूप है। यह स्थिति तब तक रहेगी जब तक भारतीय समाज अपनत्व को नही प्राप्त करता, जब तक यह अपने जीवन को सरल और स्वच्छ नही बनाता।

जब समाज की रुचि विकृत हो जाती है तो कलाकार के सामने यह प्रश्न उठता है कि वह इस स्थिति में क्या करे। ऐसी स्थिति में न तो उसकी कला को सम्मान मिलता है और न समाज ही उसकी कला से लाभ उठा पाता है। कला का समाज में कोई स्थान नही होता और कला जीवित नही रह सकती। जब कलाकार तथा समाज की रुचि में सामञ्जस्य होता है, तभी कला का जीवन में समाज के लिए कोई महत्त्व होता है। प्रश्न यह है कि ऐसे दूषित वातावरण में कला जीवित ही कैसे रहे? कला का ह्रास होने लगता है। कला के बिना समाज प्राणविहीन हो जाता है और समाज के बिना कला पनप ही नहीं सकती। फिर प्रश्न उठता है कि कौन किसका सुधार करे, कला समाज को ऊपर उठाये या समाज कला को? यह प्रश्न जटिल है। गिरा हुआ समाज, विकृत समाज अपनी कला को कैसे ऊपर उठा सकता है? और कला जो समाज की रुचि पर आधारित है, समाज को कैसे ऊपर उठाये। यह एक पहेली-सी दीख पडती है, परन्तु इस पहेली का हल इतना सरल है कि इसका उत्तर बच्चो के एक खेल "सी-सा" (ढेंकी) से बडी आसानी से दिया जा सकता है। इस खेल मे एक धुरी के ऊपर एक पटरा रखा होता है। दोनो ओर एक-एक बालक बैठता है। एक तरफ का बालक बैठे-बैठे अपनी तरफ तख्ते को दबाता है और पटरे के दूसरी

तरफ बैठा बालक ऊपर उठ जाता है। फिर ऊपर उठा बालक अपनी तरफ जोर से दबाता है और दूसरी तरफ का बालक ऊपर उठ जाता है। इसी प्रकार एक दूसरे को ऊपर उठाता रहता है। अपने गिरकर दूसरे को उठाता है। यही तरीका कला और समाज का है। कला अपने गिरकर समाज को उठाती है, समाज अपने गिरकर कला को उठाता है। यहाँ कला के गिरने का तात्पर्य यह है कि वह समाज के धरातल पर आती है, अर्थात् समाज की क्षमता तथा योग्यता के अनुसार अपना रूप धारण करती है और तब समाज को उठाती है। इसी प्रकार समाज अपनी कला के लिए बलिदान करता है, उसे ऊपर उठाने के लिए। तात्पर्य यह है कि कला समाज की रुचि के अनुसार नीचे आकर भी उसे ऊपर उठाती है और समाज गिरते-गिरते अपनी कला को उठाता है। इस प्रकार कला की रुचि के साथ समाज का सामंजस्य होता है। कला समाज के लिए है और समाज कला के लिए है।

जीवन और कला

ससार की सम्पूर्ण सभ्यताओ का आधार मनुष्य की सुख पाने की अभिलाषा है । सुख की खोज में ही मनुष्य इतना आगे बढ पाया है । इस खोज के लिए मनुष्य तन-मन-धन तथा अपनी सम्पूर्ण चेतनाओ से निरन्तर रत रहता है । मनुष्य का कोई भी ऐसा काम नही जिसमें उसके सुख की आकाक्षा न छिपी हो । मनुष्य अभिलाषाओ की एक गठरी है और इन सभी अभिलाषाओ की वह पूर्ति करना चाहता है । एक ओर जैसे-जैसे उसकी अभिलाषाएँ पूर्ण होती जाती वैसे-वैसे उसे अधिक सुख मिलता जाता है, और दूसरी ओर उसकी गठरी की अभिलाषाएँ बढती जाती है । यही है मनुष्य का नित्य-प्रति का कार्य । यही है उसका जीवन । मनुष्य की अभिलाषाओ का न तो कभी अन्त ही है और न उसकी सुख की लालसा ही समाप्त होती है । यह एक प्रकार की मृगतृष्णा हुई ।

इसी प्रकार की मृगतृष्णा का यह ससार है जिसमें प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी प्यास बुझाने के लिए व्याकुल है । न प्यास ही समाप्त होती है, न पानी ही । इस मृगतृष्णा से लोहा लेने के दो ही मार्ग हो सकते है । एक तो यह कि इस प्यास को भुलाने का प्रयत्न किया जाय और दूसरा यह कि इस प्यास को दृढ़ता के साथ शान्त करने के प्रयत्न किये जायें । हम इसको भुलानेवालो में ससार से मुख मोड़े सन्यासियो को कह सकते है जो ससार की ओर से आँख बन्द कर लेते है । ससार के अन्य प्राणी इस प्यास को बुझानेवाले है जिसमें हम और आप सम्मिलित है । इसे हम जीवित रहने की कला कह सकते है ।

कला, काम करने की वह शैली है जिसमें हमें सुख या आनन्द मिलता है । वैसे तो कला का नाम लेने पर हमें ललित-कलाओ, सगीत-कला, चित्र-कला, काव्य-कला, नृत्य-कला, इत्यादि का बोध होता है, परन्तु ये सभी कलाएँ जीने की कला के अन्तर्गत है या हम यो कह सकते हैं कि जीने की कला इन सभी की माता है । जीने की कला में अच्छी तरह सफल होना हमारे जीवन का लक्ष्य है, और सब कलाएँ इसमें योग देती है, जिस प्रकार एक बडी नदी में छोटी-छोटी अनेको नदियाँ आकर मिलती जाती है और अपना योग देती

हैं। अगर छोटी नदियाँ आ-आकर बडी नदी में न मिलें तो बडी नदी उस तेजी से आगे नही बढ सकती जैसा कि उसे बढना चाहिए।

जीने की कला के अन्तर्गत ससार के सभी साधन आ जाते हैं। दर्शन, विज्ञान, कला, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्म, शिक्षा, स्वास्थ्य-शिक्षा और दूसरी सभी विद्याएँ हैं। जीने की कला का लक्ष्य है सुख या आनन्द की प्राप्ति और यही लक्ष्य और सभी कलाओ का है।

मनुष्य के इतिहास की ओर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि सबसे पहले मनुष्य को इसी की चिन्ता हुई होगी कि वह सुखपूर्वक कैसे रह सकता है। सबसे पहले उसे अपनी सुरक्षा का ध्यान हुआ होगा जिसमें भूख पहली, दूसरी शरीर की रक्षा, तीसरी कुटुम्ब-निर्माण या समाज-निर्माण की लालसा। भूख के लिए अच्छे प्रकार के सुख और आनन्द देनेवाले खाद्य पदार्थो की खोज, शरीर की रक्षा के लिए सुख देनेवाले वस्त्रो, शस्त्रो, ओपधियो की खोज, समाज-निर्माण के लिए सुख देनेवाले व्यवहारो की खोज, और सुख देनेवाली अनेको वस्तुओ के निर्माण की धुन—यही प्रारम्भ से उसके जीवन का लक्ष्य रहा है। इसी के सुखदायक निर्वाह को हम जीवन की कला कहते हैं। सुख की प्राप्ति सुख देनेवाले ढगो की खोज किये विना नही हो सकती। अर्थात् सुख पाने के लिए कुछ नियम हो सकते हैं। इसलिए जो भी काम करना है उसे नियमित ढग से ही करने में सुख की प्राप्ति होगी। जब हम किसी काम को नियमित ढंग से करते हैं तव हमें सुख मिलता है। जिस काम के करने में हमें सुख मिलता है उसी में हमें सौन्दर्य का दर्शन होता है। या हम यो कह सकते हैं, सुन्दरतापूर्वक कोई काम करने में हमें सुख मिलता है। इसलिए यदि हम किसी भी काम के करने में सुख की इच्छा करते हैं तो उसे सुन्दरतापूर्वक करना चाहिए। चित्रकला का ज्ञान हमें प्रत्येक कार्य को सुन्दरतापूर्वक करना सिखाता है। जीवन में यदि हम हर काम को सुन्दरतापूर्वक करें तो हमें सुख मिलेगा और यही सुख की प्राप्ति जीवन की कला का लक्ष्य है। इस तरह जीवन की कला में चित्रकला का कितना महान् योग है, यह विलकुल स्पष्ट है। चित्र-कला का ज्ञान प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है यदि वह अपने जीवन को सुखी वनाना चाहता है।

चित्रकला के विद्यार्थी का पहिला काम होता है प्रकृति निरीक्षण। चित्र वनाने से पहले उसे प्रकृति को देखना-सीखना पड़ता है। हर समय, चलते, उठते, वैठते, उसे अपने चारो ओर की वस्तुओ को रुचिपूर्वक देखना पडता है। प्रकृति की सुन्दरता का अध्ययन करना पडता है और प्रकृति का यह अध्ययन उसे जीवन पर्यन्त करना पडता है। प्रकृति अनन्त है,

उसकी सुन्दरता अनन्त है। इस अनन्त सुन्दरता का जो रसपान नहीं कर सकता वह चित्रकार हो ही नही सकता। एक बार प्रकृति की सुन्दरता का रसपान कर लेने पर उसके सामने सौन्दर्य का एक कोष खुल जाता है। उसमें से चित्रकार जितनी चाहे उतनी सुन्दरता अपनी रचना में भर सकता है। प्रकृति की सुन्दरता का निरन्तर रसपान करते रहने और उस सुन्दरता के आधार का पता लग जाने पर चित्रकार अपने चित्रों को भी सुन्दरता से भर सकता है।

आज का जीवन इतना व्यस्त है कि हमें प्रकृति की सुन्दरता का रसपान करने का समय ही नही मिलता। परन्तु प्रकृति की सुन्दरता का निरन्तर निरीक्षण करते रहने पर उसकी सुन्दरता का मत्र चित्रकार को मिल जाता है। फिर वह उस प्यासे की भाँति जिसकी प्यास कभी बुझती ही नही, दिन-रात प्रकृति सुन्दरी के महासागर में गोते लगाता रहता है। और उसी से प्रभावित होकर अपनी रचना भी करता जाता है और तभी उसकी रचना भी महान् हो पाती है। वह जानता है फूलो में सुन्दरता कहाँ से आयी, कल-कल करती हुई नदियो को सुन्दरता कहाँ से मिली, आकाश में, पृथ्वी पर, जल में, वृक्षो में, पक्षियो मे, जीव-जन्तुओ में, कीडे-मकोडो में, उमडते-घुमडते बादलो में, सूर्य की किरणो मे, चाँद की चाँदनी में और मनुष्य में सुन्दरता कहाँ छिपी है। यह वृहत् ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही चित्रकार महान् हो पाता है और महान् रचना कर पाता है। चित्रकला का कार्य बिना इस ज्ञान के आगे बढ नही सकता। चित्रकार को प्रकृति का प्रेमी बनना पडता है और ऐसा प्रेमी जो पल भर के लिए भी अपनी प्रेयसी को भुला नही सकता।

जब चित्रकार और प्रकृति का सम्बन्ध प्रेमी और प्रेयसी का है तो प्रेमी अपनी प्रेयसी को क्षण भर के लिए भी आँखो से ओझल नही कर सकता और अकस्मात् यदि उसकी प्रेयसी को दु ख होता है, चोट पहुँचती है, तो वह उसे कदापि नही सहन कर सकता। उसकी प्रेयसी को चोट उसके ही भाई-बन्धु लगा सकते है। जापान में एटम बम गिरा। हिरोशिमा की सारी प्रकृति नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। पिछले महायुद्ध में करोडो मनुष्य काल-कवलित हुए, घायल हुए और कुरूप हो गये। बीमारी, महामारी, भूख और तडप ने लोगो को जर्जर कर दिया। सुकुमार बच्चो, कोमल युवतियो और अनेको प्राणियो की सुन्दरता छिन गयी। यह सब किसने किया? मनुष्य ने अपनी सुन्दरता को अपने आप बिगाड लिया। कोई कलाकार क्या कभी ऐसा कर सकता है? या सोच सकता है? वह इसे कभी सहन नही कर सकता और यदि सब में यही कलाकार की भावना हो तो ऐसे कुरूप दृश्य देखने का कदाचित् ही किसी को अवसर मिले।

आज हमारा समाज कुरूप और विकृत हो चुका है। ऊँच-नीच का भाव, आपस का

कलह और मनमुटाव, एक-दूसरे को क्षति पहुँचाने की भावना, एक को दबाकर स्वयं ऊपर बढने का प्रयत्न, लालच, झुठाई, अमानुपिक व्यवहार इतने बढ गये हैं कि उनका प्रतिरोध कठिन हो गया है। देश के नेता, सुधारक, उच्च पदाधिकारी, इस भयानक बाढ को अपने भाषणो, लेखो इत्यादि से दूर करने के लिए कटिबद्ध हैं, परन्तु इस कार्य में जो सफलता मिल रही है वह भी हमारे सामने है।

समाज की यह बर्बरता लेखो और भाषणो से इस तरह दूर नही की जा सकती। जब तक समाज एक सुन्दर समाज नही बन जाता, जब तक समाज का एक-एक व्यक्ति समाज को सुन्दर बनाने में योग नही देगा, जब तक समाज के प्रत्येक प्राणी को सौन्दर्य प्राप्ति का मार्ग नही मालूम हो जायगा, जब तक उसको प्रकृति से प्रेम न हो जायगा, तब तक, न उसके विचार ही बदलेंगे, न वह अपनी हरकत से बाज आयेगा। यदि सचमुच हमें अपने समाज को सुन्दर, सुगठित, सुदृढ बनाना है, तो हमें ध्वसात्मक वृत्तियो का दमन कर रचनात्मक वृत्तियो का स्वागत करना सीखना होगा और सिखाना होगा। यह ध्रुव सत्य है, कि अगर एक बार मनुष्य को रचना या सृष्टि का आनन्द मिल गया तो फिर वह स्वप्न मे भी ध्वसात्मक वृत्ति की भावना नही ला सकता। उसका सम्पूर्ण समय, उसकी पूरी शक्ति, उसका तन, मन, धन, सभी रचना के कार्य में लगेगा और फिर यह असम्भव है कि वह निर्माण के बदले ध्वस करने की सोचे। जिस काम में उसने अपने को निछावर कर दिया है उसे नष्ट-भ्रष्ट होते वह कैसे देख सकता है?

निर्माण की इस प्रवृत्ति को हमें अपने में फिर से जगाना होगा। निर्माण के ही आधार पर हम अपने समाज तथा जीवन को पुन. सुन्दर बना सकते हैं। आज आवश्यकता है कि भारत का बच्चा-बच्चा, युवक-युवतियाँ, वृद्ध-वृद्धाएँ, रचना के कार्य में सलग्न हो जायँ। विद्यालयो में, गृह-उद्योगो पर, रचना के कार्य पर, अधिक ध्यान देना इस समय हमारा मुख्य प्रयोजन होना चाहिए। रचना का ही दूसरा नाम कला है।

प्रत्येक मनुष्य के सम्मुख, जो संसार में आया है, सबसे जटिल समस्या अपने चारो ओर के वातावरण से हाथापाई करना रही है। यह भी बिलकुल सत्य है कि इस वातावरण का सामना अकेले करना उसके लिए कठिन है। उसका जीवन इतना छोटा है कि अगर वह केवल अपने अनुभव से ही इस ससार को समझना चाहे और उसी के अनुसार बिना दूसरो की सहायता के जीवित रहना चाहे, तो उसका सारा समय समाप्त हो जायगा और इस अपरिमित संसार के एक छोर का भी उसे पता न लग सकेगा। ऐसी स्थिति में उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह दूसरो के अनुभव का भी सहारा ले और

उसमे लाभ उठाये। वह दूसरो के अनुभवो को ग्रहण करता है और उन्ही अनुभवो को अपने अनुभव की नीव बनाता है। इस प्रकार अनुभव की मजिल ऊपर ऊठती चली जाती है। यही है समाज की उन्नति का ढग।

इस प्रकार समाज का यह नियम है कि प्रत्येक मनुष्य पहले समाज के अनुभवो को ग्रहण करता है, फिर उन्ही के सहारे वह स्वयं अनुभव करता है और अन्त में समाज की उन्नति के लिए वह अपने अनुभवो को समाज को दान करता है। ससार में रहनेवाले हर व्यक्ति के लिए ये तीन बातें नितान्त आवश्यक है, चाहे वह योद्धा हो, पण्डित हो, व्यवसायी हो या मजदूर हो। चित्रकार भी इन्ही में से एक है। उसको भी इन तीन नियमो का पालन करना आवश्यक है।

चित्रकार भी पहले समाज के अनुभवो को ग्रहण करता है और अपने अनुभवो को चित्रो में रखता है। चित्र बनने तक उसने समाज के दो नियमो का पालन किया। अब तीसरा नियम समाज को अपने अनुभव का दान करना बाकी रह गया। वह चित्रकार तभी कर सकता है जब अपने चित्रो को समाज के सम्मुख रखे। इसलिए चित्रकार अपने चित्रो का प्रदर्शन करता है, उसके चित्र प्रदर्शनियो में, पत्र-पत्रिकाओ में और अन्य जो भी माध्यम हो सकते है, उनके द्वारा वह अपने चित्रो का प्रदर्शन करता है।

कला और सौन्दर्य

सुन्दरता किसी न किसी रूप में सबको भाती है, पर सुन्दरता किसे कहते हैं इसमें बहुत मतभेद है। इतनी साधारण बात पर इतना मतभेद ! हमारी प्राचीन सभ्यता यही बताती है कि सुन्दर वही हो सकता है जो सत्य है और शिव है। सुन्दरता किसमें है यह जानने के लिए सत्य और शिव को भी पहचानना पडेगा। मान लीजिए, हम सौन्दर्य को पहचानना चाहते हैं, तो पहले सत्य और शिव को जानना पडेगा। सौन्दर्य को तो लोग अपने इच्छानुसार पहचान लेते हैं, पर सत्य क्या है, यह उससे बहुत टेढ़ा तथा सूक्ष्म प्रश्न है। जो हमें भाता है उसी में हम सौन्दर्य पा लेते हैं, पर सत्य की क्या पहचान ? सत्य तो कई नही होता, एक होता है। वह एक क्या है ? यह बडा भारी प्रश्न है। इसको हल करने में सारा ससार निरन्तर लगा है, पर आज भी सत्य की व्याख्या करना कठिन है। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। अब आपको शिव समझना है। शिव तभी समझा जा सकता है जब सौन्दर्य और सत्य को आप पहले ही समझ चुके हो, अन्यथा नही। अर्थात् एक को समझने के लिए इससे भी कठिन दो को और समझना है। फिर भी प्रश्न हल नही होता। एक पहेली है। सौन्दर्य को समझने के लिए सत्य तथा शिव को समझना पडेगा यानी दो को, और जब आप सौन्दर्य को समझने के लिए सत्य को समझना चाहें तो फिर वही प्रश्न कि सौन्दर्य तथा शिव को आप पहले समझे तब सत्य समझ में आयेगा। अर्थात् प्रश्न कभी हल नही हो सकता।

इसी प्रश्न पर दूसरे ढंग से भी विचार किया जा सकता है। सत्य, शिव तथा सौन्दर्य में से किसी को भी यदि हम समझते हो तो अन्य दो हम अपने-आप समझ जायेंगे। यह बात भी जरा कठिन ही है। सत्य, शिव तथा सौन्दर्य इनमें से एक भी ऐसा नहीं जो जल्दी अपनी पीठ पर हाथ रखने दे। तीनो शब्द ऐसे है जिनकी व्याख्या आज तक कोई ऐसी नही कर सका जो सर्वमान्य हो, अर्थात् तीनो शब्द रहस्यात्मक हैं और धीरे-धीरे यही धारणा बनती जा रही है। फिर भी एक बात तो साफ है कि इस रहस्य को प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी बुद्धि से कुछ न कुछ समझता है और उसी को सही समझता है। इसका प्रमाण यही

है कि सदियो से अनेक विद्वानो ने अपनी-अपनी धारणाएँ प्रस्तुत की है जो हजारो है। इसलिए हम भी अपनी बुद्धि से इसका निर्णय कर सकते है।

यहाँ पर हमें सौन्दर्य ही समझना है। अन्य दोनो शब्दो को हम छोड देते हैं।

सौन्दर्य को विद्वान् आन्तरिक चेतना मानते हैं। सौन्दर्य वस्तु में नही होता बल्कि दर्शक के मन में होता है। सौन्दर्य बाह्य रूप में नही होता। हम यह नही कह सकते कि बिना मस्तिष्क के कोई वस्तु सुन्दर हो सकती है। यदि हम ऐसा कहने की चेष्टा करते है तो हमें सौन्दर्य का एक निश्चित मापदण्ड प्रस्तुत करना होगा जिसके द्वारा हम ससार की सभी वस्तुओ का सौन्दर्य अलग-अलग तौल सकें। और इसका तात्पर्य यह होगा कि कला को हमें विज्ञान के धरातल पर रखना होगा।

बहुत से आधुनिक कलाकारो ने यह बार-बार साबित किया है, कि जिन वस्तुओ को हम असुन्दर समझते रहे है, वे भी चित्र के रूप में निर्मित होने पर सुन्दरता बिखेरती है। यह बात साहित्यकारो ने भी मानी है। तभी तो किसान, मजदूर, लँगडे, लूले, विकृत, भुखमरो के चित्रो का बनाना भी आरम्भ हो सका। कलाकार देवीप्रसाद राय चौधरी के द्वारा निर्मित चित्र 'आँधी में कौवा' एक सफल कलाकृति समझा जा सका। विख्यात डच कलाकार रेम्ब्रा ने एक चित्र चमडा उतारे हुए भैसे का बनाया है जो अन्धेरे में लटक रहा है। यह चित्र उसके उत्तम चित्रो में से एक है और प्रकाश और छाया के सयोजन की दृष्टि से एक अद्भुत सुन्दर चित्र है। स्पैनिश विख्यात चित्रकार वेलास्काज ने एक अभूतपूर्व चित्र पानी में रहनेवाले गन्दे बौने का बनाया है। यह चित्र भी एक बेजोड तथा मान्यता-प्राप्त चित्र है। इससे यह साफ जाहिर है कि चित्र की सुन्दरता वस्तु में नही होती और न उसका उपयोगिता से सम्बन्ध है, न ही नैतिकता या दार्शनिकता से उसका सम्बन्ध है। इतना ही नही, जिस वस्तु को हम असुन्दर कहते है उसे चित्रकार अपना मनोबल देकर, रुचि देकर, अपनी कार्य-कुशलता से उसमें भी सौन्दर्य दिखा देता है। इस प्रकार एक तरह से कलाकार ने साबित कर दिया कि कोई भी वस्तु असुन्दर नही है। हमारे दृष्टिकोण का अन्तर है। परन्तु फिर भी साधारण दृष्टि में तो असुन्दरता हमें दिखाई ही पडती है और बहुत-सी वस्तुएँ हमें सुन्दर भी लगती है। यही कारण है कि हम सदैव अपने कार्यों को, वातावरण को, सुन्दर बनाने में प्रयत्नशील रहते है अर्थात् असुन्दरता से सुन्दरता की ओर प्रयत्नशील है। कलाकार इस कार्य में दक्ष होता है। एक प्रकार से वह समाज का पथ-प्रदर्शक है कि असुन्दर को सुन्दर कैसे बनाया जाय। इसका अर्थ तो यह हुआ कि असुन्दर वस्तु भी होती है और उसे सुन्दर किया जा सकता है अर्थात् सुन्दरता या असुन्दरता बाह्य रूपो में भी होती है।

सच तो यह है कि सौन्दर्य वाह्य रूपो में भी होता है और दर्शक के मन में भी। मान लीजिए, सौन्दर्य सत्य है जैसा कि प्राचीन विचारको ने कहा है और आज भी वहुत से विद्वान् मानते हैं। सत्य रहस्यमय शव्द अवश्य है, परन्तु उसका अर्थ कुछ दूर तक हम सभी समझते हैं। यह सत्य है कि सूर्य पूर्व में उदय होता है—उसका प्रकाश हमें प्राप्त होता है। यह भी सत्य है, सूर्य के डूवने के पश्चात् रात होती है और पुन' दिन। रात और दिन, दोनो में अन्तर है। रात में सूर्य नही दिखाई पडता, दिन में दिखाई देता है। अव यदि दिन में जव ऊपर सूर्य चमक रहा हो और कोई कहे रात है तो यह उस समय तथा स्थान के लिए मिथ्या अवश्य है। इसी प्रकार सौन्दर्य के वारे में भी है। कमल का फूल सुन्दर होता है, पर ऐसा भी कोई कह सकता है कि वह असुन्दर है, यद्यपि यह सत्य न होगा। नील आकाश में उगा चाँद दो प्रेमी देखते नही अघाते, परन्तु एक विरहिणी को वही चाँद काटे खाता है। चाँद अपनी जगह है। परिस्थितियाँ भिन्न हैं। एक जगह चाँद प्रेमी-प्रेमिका के वीच सौन्दर्य का स्रोत है और दूसरी ओर विरहिणी के लिए काटा। या यो कहिए, मिलन में चाँद सुन्दर लगता है और वियोग में असुन्दर। दोनो दो भावनाएँ तथा मनःस्थितियाँ हैं। विभिन्न मन स्थितियो में एक ही मनुष्य को एक ही वस्तु सुन्दर तथा असुन्दर प्रतीत हो सकती है। यहाँ पर यह वात सिद्ध होती है कि सुन्दरता मन'-स्थिति पर निर्भर करती है। वस्तु में सुन्दरता है कि नही, यह प्रश्न नही उठता। वस्तु सुन्दर भी हो तो भी मन विकृत हो या मन अन्यत्र कही लगा हो तो वस्तु असुन्दर दिखेगी या सुन्दरता का आभास ही न होगा। यदि मन हम किसी चीज में लगायें तो उसमें सौन्दर्य दृष्टिगोचर होने लगेगा। अर्थात् सौन्दर्य के दो हिस्से हैं। दोनो के सामजस्य से सौन्दर्य का वोध होता है। वे हैं वस्तु तथा मन। वस्तु में भी सौन्दर्य है और मन में भी।

यह कहना कि केवल मन में सौन्दर्य है भूल है, क्योकि यदि मन में ही सौन्दर्य है तो वस्तु की क्या आवश्यकता ? विना वस्तु देखे मनुष्य अपने मन में सौन्दर्य का वोव करता जा सकता है। हो सकता है, कुछ अति काल्पनिक व्यक्ति ऐसा करते भी हो, पर एक वात हमें नही भूलनी चाहिए कि जन्म के साथ ही हम अपनी इन्द्रियो से वस्तु का आभास करना आरम्भ कर देते हैं, जव कि कल्पना हमसे कोसो दूर रहती है और जिन वस्तुओ को हमने जन्म से देखना आरम्भ किया है उनका नक्शा हमारे अचेतन मन पर सदैव अंकित रहता है। आगे चलकर यदि हम मन में सौन्दर्य खोजने का प्रयास करे तो इन वस्तुओ को नही भुलाया जा सकता। इतना ही नही, ईश्वर की कल्पना करते समय भी उसे हम ससार में देखी वस्तुओ, आकृतियो के आधार पर ही कल्पित करते हैं, जैसे—

राम, कृष्ण, गणेश, शिव, इत्यादि मनुष्य की आकृतियो या ऐसे ही सासारिक रूपो के सामजस्य की आकृतियो में। हाँ, निराकार ब्रह्म में लीन होना दूसरी बात है जिसका चित्र-कला मे शायद कोई ताल्लुक नही, क्योकि चित्र में रूप या आकृति आवश्यक है चाहे वह अति सूक्ष्म ही क्यो न हो।

वस्तु भी सत्य है। मनुष्य है और सारा ससार अनेक प्रकार की वस्तुओ से भरा हुआ है। दोनो ही सृष्टि के अग है और दोनो सत्य है। फिर एक को सुन्दर और दूसरे को असुन्दर कैसे कहा जा सकता है ? मनुष्य के रूप में सुन्दरता है और ससार के रूप में भी। परन्तु मनुष्य यदि ससार का सौन्दर्य देखना चाहता है, तो उसे अपने मनोबल का भी प्रयोग करना होगा। आँख बन्द कर लेने से, मस्तिष्क की क्रिया को रोक देने से न तो वस्तु दिखाई पडेगी न सौन्दर्य, यद्यपि फिर भी वस्तु में सौन्दर्य रहेगा और चिरन्तन के लिए। हम मिट जायें तो भले हमारे लिए ससार न हो, पर ससार तो रहा है और रहेगा। कब तक रहेगा, यह नही कहा जा सकता, न यह ही कि कब से है। पर है और रहेगा। वस्तु में सुन्दरता है, हाँ आँख मूँद लेने पर हमें नही दिखाई पडती। जो सत्य मनुष्य के भीतर है वही ससार में भी है। दोनो को सम्मुख करने की आवश्यकता है।

सौन्दर्य और विलक्षणता

सौन्दर्य पर विचार करते समय हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सौन्दर्य वस्तु तथा मन दोनो में निहित है। इस बात को भली-भाँति समझने के लिए आइए हम इस पर विचार करें कि वस्तु में सौन्दर्य किस रूप में होता है और मन में सौन्दर्य की भावना कहाँ से प्राप्त होती है।

पहले मन को लीजिए। यहाँ एक प्रश्न विचार करने योग्य है कि मनुष्य के अन्दर सौन्दर्य की भावना कब से और कैसे उत्पन्न होती है। हम सभी अपने-अपने बाल्यकाल की कुछ न कुछ बात याद रखते है। आइए, उन्ही पर विचार करें। सोचिए कि क्या तुरन्त उत्पन्न हुए शिशु को सौन्दर्य की अनुभूति होती है ? यदि ऐसा होता तो बालक उत्पन्न होते ही चीख चीख कर रोने के बजाय हँसता या मुस्कराता हुआ आता। आप कह सकते है, उस समय वह गर्भ का कष्ट अनुभव करता है इसीलिए रोता है, यद्यपि सौन्दर्य की भावना उसमे होती है। ठीक भी हो सकता है। सौन्दर्य की प्राप्ति पर आनन्द होता है और आनन्द लेते समय व्यक्ति मौन भी रह सकता है, जैसा एक बालक पालने पर पडा मौन आनन्द लेता रहता है, यद्यपि वह इस प्रकार केवल आनन्द पाता है या सौन्दर्य की अनुभूति भी करता है,

कहना कठिन है । आनन्द और सौन्दर्य एक ही वस्तु नही । सौन्दर्य की प्राप्ति पर आनन्द का अनुभव हो सकता है । सौन्दर्य माध्यम है, लक्ष्य है आनन्द । बालक आनन्दित रहता है, इसका यह तात्पर्य नही कि उसे सौन्दर्य भी प्राप्त है । आनन्द सन्तुष्टि से भी प्राप्त हो सकता है । सन्तुष्टि प्राप्त करने के अनेको साधन है—सौन्दर्य भी एक है । बालक मा का दूध पी कर सन्तुष्ट हो आनन्दानुभूति करता है, सौन्दर्य की प्राप्ति से नही ।

सौन्दर्य वस्तु में होता है । तुरन्त उत्पन्न हुआ बालक ससार की किसी वस्तु को नही पहचानता इसलिए उसे सौन्दर्य की अनुभूति नही हो सकती । जैसे-जैसे वह सासारिक वस्तुओ से परिचित कराया जाता है, वह उन्हें पहचानना आरम्भ करता है और आरम्भ में वह केवल इतना ही समझता है कि कौन-कौन-सी वस्तु उसे सुख देती है, कौन दु ख । इस समय तक वह वस्तुओ की सुन्दरता पर कोई ध्यान नही देता । धीरे-धीरे उसकी रुचि अपने अनुभव के अनुसार बनती जाती है । जिन वस्तुओं से वह सुख पाता है, वे उसके लिए रुचिकर बनती जाती हैं । इस प्रकार सुख और दु ख के आधार पर उसकी रुचि बनती है । जो वस्तुएँ उसे सुख देती हैं उन्हें वह याद रखता है । याद रखने के लिए उसे वस्तुओ का आकार, रूप, रंग सभी निहारना पडता है और इन्ही का एक चित्र उसके मस्तिष्क में खिचता जाता है, जो स्थायी होता जाता है । इसके पश्चात् जब वह धीरे-धीरे अन्य वस्तुओ को भी पहचानने का प्रयत्न करता है और उसके सम्मुख तमाम वस्तुएँ आती जाती है तब उसे वस्तुओ के रूप को और बारीकी से समझना होता है, और एक दूसरे के रूप का अन्तर समझना होता है । गेंद भी गोल है, अमरूद भी गोल है, सन्तरा भी गोल है, चाँद, सूर्य, दुनिया की तमाम वस्तुएँ गोल है—इनके अन्तर को उसको समझना और याद रखना होता है । इस प्रकार बालक धीरे-धीरे रूप, आकार, रग तथा उनकी प्रकृति को ध्यान से समझता जाता है और उनके अन्तर को याद रखकर वस्तुओ को पहचानता जाता है । यही ज्ञान आगे चलकर सौन्दर्य अनुभूति में परिणत हो जाता है । सौन्दर्य क्या है, यह ज्ञान जन्मजात नही है बल्कि इसे धीरे-धीरे वह समाज से तथा अपने अनुभव से सीखता है ।

वस्तुओ का आकार, विलक्षणता, रूप तथा रंग बालको को जल्द आकर्षित करते हैं । बहुत-सी वस्तुओ के बारे में बालक को कुछ भी ज्ञात नही रहता, परन्तु फिर भी उस वस्तु के विलक्षण रूप, रंग तथा आकार के कारण वह उसे भी पहचानता है और आकर्षित होता है, जैसे चाँद । चाँद को बालक नील आकाश में ऊपर एक विलक्षण चमकते गोले के रूप में देखता है—ऐसी दूसरी वस्तु उसे नही दिखाई देती । इस विलक्षणता के कारण धीरे-धीरे वह इसे पहचानने लगता है, यद्यपि वह क्या है, किस उपयोग का है कुछ नही जानता । इस प्रकार हम देखते हैं कि विलक्षण वस्तु या विचित्रता भी हमारा एक आकर्षण बन जाती

अभिव्यंजनात्मक चित्र



प्रकाश के अँधेरे में

है। बहुत-सी वस्तुएँ विचित्र तथा विलक्षण होती हैं, परन्तु सब को देखकर मनुष्य आनन्दित नही होता। जिन वस्तुओं मे हमें भय नही होता, घृणा नहीं होती, वही हमें आकर्षित करती है। बालक कुत्ते के प्रति आकर्षित होता है, पर जब उसे काटने देखता है तो उसका आकर्षण खत्म होने लगता है। इस प्रकार कष्टदायक वस्तुओं के प्रति आकर्षण धीरे-धीरे खत्म होता जाता है, यद्यपि उस वस्तु का रूप, रंग, आकार तथा विलक्षणता हमें कष्ट नही देती केवल उसका स्वभाव कष्ट देता है। सर्प अनेको प्रकार के विलक्षण रूप, रग के होते हैं। उनका रूप नही बल्कि स्वभाव कष्टदायक है। हम मदारी के सर्प देखते हैं, क्योंकि वहाँ हमें भय नही रहता और हम उनके रूप का आनन्द ले सकते हैं। इसी प्रकार ससार की प्रत्येक वस्तु का रूप हमें आकर्षित करता है, उसके सौन्दर्य का आनन्द हम लेते हैं।

वस्तुओं का रूप, रंग और विलक्षणता हमें भाती है, उसी में हम सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त करते हैं और आरम्भ से ही हमारे मस्तिष्क के अचेतन पट पर वस्तुओं के चित्र अंकित होते जाते हैं। जो रूप जितना विलक्षण होता है वह मानस-पट पर उतनी ही गहराई से अंकित होता जाता है। हाँ, उसमें से कुछ रूप हमें अधिक रुचिकर लगते हैं जिनके साहचर्य से हमें भय, घृणा न होकर प्रेम की अनुभूति हुई रहती है या जिनसे हमें लाभ हुआ रहता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के प्रति हमारी रुचि बनती है। आरम्भ में बालक दूध पीता है, वह उसे रुचिकर होता है। उसका सफेद रग भी उसे रुचिकर लगता है, क्योंकि उसी से वह उसे पहचानता है। काले रग का कुत्ता उसे उतना रुचिकर नही लगता जितना सफेद रंग का। सफेद कपडे का हमारे समाज में अधिक उपयोग होता है—बालक आरम्भ से ही यह देखता है और समाज की इस रुचि को उचित समझकर अपनाता है। इस प्रकार बालक अपने समाज में प्रचलित बहुत सी रुचियो को अपनाता जाता है। धीरे-धीरे अपने अनुभव तथा समाज की रुचि के अनुसार वह कुछ रूप, रगों तथा आकारो को सुन्दर समझने लगता है और आगे चलकर इस प्रकार संसार में देखी वस्तुओं मे से कुछ रूपो के प्रति उसकी पक्की धारणा बन जाती है और उन्हें देखकर वह सौन्दर्य प्राप्त करता है।

आगे चलकर जब व्यक्ति विचारशील तथा अध्ययनशील हो जाता है तब वह अपनी धारणाओं पर पुन दृष्टिपात करता है, यह जानने के लिए कि जो धारणाएँ उसने बनायी हैं वे विचार की कसौटी पर सही उतरती हैं या नहीं। इस समय वह विवेक के साथ नयी धारणाएँ बनाता है, और विवेकहीन रुचियों को त्यागना आरम्भ करता है। समाज से तथा अनुभव से प्राप्त रुचि को वह बिलकुल नही त्याग देता, बल्कि उनमें से परिमार्जित

रुचियो को ही अपनाता है । भय तथा घृणा की मात्रा अब कम होती जाती है और रूप की ओर वह अधिक खिचता है । इस समय वह रूप पर विचार करना आरम्भ करता है और विवेक से उसका चुनाव करता है । चुनने में कुछ सिद्धान्त बनाता है । विलक्षणता यहाँ भी सबसे प्रमुख मापदड होती है । जो रूप जितना विलक्षण होता है वही अधिक रुचिकर और सुन्दर लगता है । जो वस्तु बहुतायत में पायी जाती है, आसानी से प्राप्त हो जाती है, वह उतनी सुन्दर नही लगती । कमल का फूल हम रोज नही देखते । सरोवर के पास जाने पर नील जल के ऊपर लहराता कमल हमें सुन्दर लगता है । मोर जंगल में रहता है, और वही नाचता है जहाँ हम नही होते । यह दृश्य हमें जल्दी नही प्राप्त होता इसलिए इस विलक्षणता को देखने में हम रुचि लेते है, लालायित होते हैं और देखने पर सौन्दर्य का अनुभव प्राप्त करते है । मोर के पख जिस प्रकार अलंकृत रहते है, वैसे दूसरे पक्षियो के नही, यह विलक्षणता हमें भाती है । इस प्रकार आसानी से प्राप्त न होनेवाले रूपो में हमें सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है । अर्थात् विभिन्न प्रकार के आकार, रूप, रग जब विलक्षण ढग से एक स्थान पर सयोजित मिलते है तो सौन्दर्य का बोध होता है और सुन्दरता के परखने में 'सयोजन' एक मुख्य गुण है ।

कला और सौन्दर्य का सम्बन्ध बहुत प्राचीन है । कला में सौन्दर्य का होना आवश्यक समझा गया है । जिसमें सौन्दर्य नही उसे लोगो ने कला माना ही नही । यदि कला रूप है तो सौन्दर्य उसका प्राण है । कुछ लोग तो कला और सौन्दर्य को एक ही रूप में देखते हैं और कला को सौन्दर्य समझते हैं । कला की परिभाषा बताते हुए लिखा गया है कि किसी कार्य को सुन्दरता के साथ करना ही कला है ।

कार्य तो इस ससार में सभी करते है चाहे मनुष्य हो, पशु हो, पक्षी हो या कोई अन्य जीवधारी । पर क्या सभी अपना कार्य सुन्दरता के साथ करते हैं ? यह प्रश्न विचारणीय है । पशु-पक्षी भी अपना कार्य करते है । नके अधिकतर कार्य भूख, प्यास, आश्रय तथा काम से सम्बन्धित रहते हैं । मनुष्य के भी यही कार्य हैं । मनुष्य तथा जानवरो में केवल यही अन्तर समझा जाता है कि मस्तिष्क जानवरो में नही होता । यह अन्तर बहुत बडा अन्तर हो जाता है, जिसके कारण जानवरो के कार्य में और मनुष्य के कार्यो मे बडी विभिन्नता हो जाती है । इसलिए जानवरो के कार्य कला हैं और उनमें सुन्दरता है या नही, यह विचार स्थगित करना पडेगा, क्योकि हमें तो मनुष्य की कलाओ से तात्पर्य है ।

मनुष्य के सभी कार्य मस्तिष्क के सहारे होते हैं, परन्तु उसके सभी कार्यो को कलाओ में स्थान नही दिया जाता, जैसे स्वप्न देखना, सास लेना इत्यादि । इतना ही नही, ललित कलाओ की परिधि तो और भी सकीर्ण है । इनमें तो केवल सगीत, काव्य चित्र, मूर्ति

तथा नाट्य-कला इत्यादि ही प्रमुख हैं। हमारा भी सम्बन्ध यहाँ केवल चित्रकला से है, इसलिए उसी का विचार करना आवश्यक है।

किसी चित्र को देखकर पहला वाक्य जो मनुष्य के मुँह से निकलता है, वह है 'चित्र सुन्दर है'। सुन्दरता पहली वस्तु है जिसे देखनेवाला सबसे पहले चित्र में खोजता है। चित्र में सुन्दरता पाने पर देखनेवाले को प्रसन्नता होती है, सन्तुष्टि होती है और सुख मिलता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि जिस वस्तु में सुख, सन्तुष्टि तथा प्रसन्नता मिले वह कला है, पर सुन्दर तो उसे अवश्य कहा जा सकता है, जैसे भूखे मनुष्य के सामने यदि भोजन रख दिया जाय तो उसे सुख, सन्तुष्टि और प्रसन्नता होती है, पर भोजन कला नहीं है, या सरोवर में उगे कमल को जो हमें सुख, सन्तुष्टि तथा प्रसन्नता देता है, कला नहीं कहा जा सकता—यद्यपि सुन्दरता उसमें अवश्य दिखाई पड़ती है। इसलिए कला और सुन्दरता एक वस्तु नहीं है। हाँ, मनुष्य के कार्यों में जब ये तीनों वस्तुएँ मिलती हैं और सुन्दरता भी होती है, तो उसे हम कला कह सकते हैं। इसलिए सुन्दरता कला नहीं है बल्कि मनुष्य का कार्य कला है, जिसमें सुन्दरता होना हम आवश्यक समझते हैं।

सुन्दरता हमें तभी प्रतीत होती है जब उस कार्य को देखकर हमें प्रसन्नता, सन्तुष्टि तथा सुख मिलता है। मनुष्य तभी प्रसन्न होता है जब उसे इच्छित वस्तु मिलती है। यदि एक शराबी को एक बोतल शैम्पेन मिल जाय तो उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। एक भिखारी को भरपेट भोजन मिल जाय तो वह प्रसन्न हो जाता है। एक किसान की यदि खेती लहरा जाय तो वह प्रसन्नता से भर जाता है। अर्थात् जिस मनुष्य को जिस वस्तु की इच्छा रही है उसकी प्राप्ति पर उसे प्रसन्नता होती है, सन्तुष्टि होती है और सुख मिलता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य की इच्छाएँ भिन्न हो सकती हैं और उसे इसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं में सुख मिलता है। सुन्दरता भी भिन्न-भिन्न रुचि तथा इच्छा के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न वस्तुओं या कार्यों में मिलती है। इसलिए सुन्दरता का आधार मनुष्य की रुचि तथा इच्छा है। सुन्दरता कोई ऐसी वस्तु नहीं जो किसी एक स्थान पर एक ही रूप में सबको मिले। विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न वस्तुओं में सुन्दरता मिलती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि सुन्दरता कोई गुण नहीं है, यह केवल एक भाव है जो मनुष्य तब प्रकट करता है जब उसे अपनी रुचि या इच्छा की वस्तु मिल जाती है।

ऐसी स्थिति में कलाकार या चित्रकार से यह कैसे आशा की जा सकती है कि वह अपनी रचना में ऐसी सुन्दरता भर सके जो विभिन्न व्यक्तियों को मान्य हो। विभिन्न

व्यक्ति विभिन्न वस्तुओ में सुन्दरता पाते है, एक ही चित्र में सभी को सुन्दरता मिले यह कैसे हो सकता है ? जैसे-जैसे मनुष्य का समाज विकसित हो रहा है, मनुष्य की इच्छाओ तथा रुचियो में निरन्तर भिन्नता वढती जा रही है । ऐसी स्थिति में कला में सुन्दरता पाना सवके लिए आसान नही । चित्रकार या कलाकार सव की इच्छित वस्तु एक ही चित्र में कैसे जुटा सकता है ? यही कारण है कि आज हम चित्र में सुन्दरता नही खोज पाते। चित्रकार जानता है कि वह विभिन्न इच्छाओ की वस्तु एक जगह इकट्ठा नही कर सकता । इसलिए वह इन इच्छाओ को अधिक महत्त्व नही देता, न वह चित्र में सुन्दरता को महत्त्व देता है, क्योकि सुन्दरता कोई एक निश्चित वस्तु तो है नही, वह भी भिन्न-भिन्न है । यही कारण है कि आधुनिक चित्रकार सुन्दरता को महत्त्व नही देता, न इसके वारे में वह कभी सोचता है, न वह यह चाहता है कि लोग उसके चित्रो में सुन्दरता खोजें ।

आधुनिक युग में चित्र में सुन्दरता होना आवश्यक नही है । सुन्दर और असुन्दर के चक्कर में आज का चित्रकार पड़ता ही नही । कला और सुन्दरता का सम्वन्ध अव इतना घनिष्ठ नही रहा । कला की परिभापा "किसी कार्य को सौन्दर्यपूर्वक करना कला है" मे से सौन्दर्य हटा दिया गया है और केवल "कार्य करना ही कला है" यही परिभापा अधिक मान्य है ।

अव यह प्रश्न होता है कि चित्र देखनेवाला चित्र में क्या देखे । अभी तक तो वह चित्र में सौन्दर्य खोजता था, अव क्या खोजे ? अभी तक तो वह चित्रो में अपनी इच्छित वस्तु खोजता था और सुन्दरता पाता था । परन्तु अव उसे चित्र में अपनी इच्छित वस्तु या सुन्दरता नही खोजना है, न पायेगा वह । तव तो यह कहा जा सकता है कि अव उसे उस वस्तु को खोजना है या पाना है जो उस चित्रकार ने पायी है और अपने चित्र में रखी है । इसमें ही देखनेवाले को सुन्दरता खोजनी पडेगी जो उसकी अपनी नही है वल्कि चित्रकार की है । चित्रकार अपने परिश्रम तथा अनुभव से कुछ खोजकर अपने चित्र में रखता है । उसी का आनन्द दूसरो को भी लेना है । यह कोई नयी वात नही है । जिस प्रकार वैज्ञानिक या दार्शनिक खोजकर वस्तु को सामने रखता है और उसका आनन्द हम भी लेते है, उसी प्रकार आज का चित्रकार भी है । जिस प्रकार एक वैज्ञानिक तथा दार्शनिक की खोज हमारे लिए हितकर है, उसी भाँति कलाकार की । जिस प्रकार वैज्ञानिक तथा दार्शनिक के कार्य में हम प्रसन्नता, सन्तुष्टि तथा सुख पाते है, उसी प्रकार कलाकार के कार्य में । दर्शक चित्रकार के अनुभव तथा खोज में आनन्द लेंगे ।

चित्रकार जव चित्र वनाता है तो वह यह कभी नही सोचता कि वह अपने चित्र में सौन्दर्य भर रहा है । शायद ही कोई ऐसा चित्रकार हो जो यह जानता है कि सौन्दर्य क्या

है, या उसका रूप क्या है। यह तो दूसरे व्यक्ति जो चित्रकार के चित्रों को पसन्द करते हैं अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए बोल उठते हैं, "सुन्दर", "अति सुन्दर" इत्यादि। कलाकार कभी यह नही सोचता कि उसने चित्र में सुन्दरता भरी है। चित्रकार तो परिश्रम करके स्नेह के साथ कुछ अंकित करता है और व्यक्ति जिस काम में परिश्रम देता है और स्नेह करता है, वह उसे भाता है। अपने हाथ की बनायी रोटी सबको बहुत मीठी लगती है। जो कार्य व्यक्ति परिश्रम तथा स्नेह से करता है उसमें अक्सर दूसरों को भी आनन्द मिलता है। इस प्रकार परिश्रम और स्नेह को हम सुन्दरता कह सकते हैं। बाग का माली जब परिश्रम तथा स्नेह से अपने बगीचे के पौधो को सींचता है और वे खिल उठते हैं, तो उसे उनमें सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है। बालक परिश्रम तथा स्नेह के साथ एक भोंडा चित्र बनाकर भी बहुत प्रसन्न होता है और उसमें उसे सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार यदि हम किसी भी वस्तु को स्नेह से देखें तो उसमें हमें सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है। जब हम किसी चित्र का आनन्द लेना चाहें तो हमें उसमें सुन्दरता नही खोजनी है बल्कि उसे सर्व प्रथम अपना स्नेह देना है और ऐसा करते ही उसमें हमें सुन्दरता दिखाई पडेगी जो आनन्ददायक होगी। जिस वस्तु को सारा ससार सुन्दर कहता है उसमे भी हमें सुन्दरता नही मिल सकती, यदि हमने उसे अपना स्नेह नही दिया है।

स्नेह न होने के कारण कौरवो और पाण्डवो में महाभारत हुआ। भाई-भाई की हत्या करने को उद्यत हुआ। स्नेह न होने के कारण तिष्यरक्षिता ने कुणाल के नेत्र निकलवा लिये। स्नेह न होने के कारण औरगजेब ने अपने राज्य में कलाओ को बन्द करवा दिया, भारतवर्ष के कलाकारो द्वारा निर्मित अद्‌भुत मूर्तियो तथा मन्दिरो को तुडवा डाला, स्नेह की कमी के कारण कला की हत्या की। यही स्नेह कुरूपता को भी सुन्दर बना लेता है अपने बल से। लैला कुरूप थी, पर स्नेह के कारण मजनू ने उसे अति सुन्दर समझा। स्नेह में बडी शक्ति है। यही स्नेह यदि हम दूसरो को दें तो वे हमें सुन्दरता बदले में देते हैं। सुन्दरता पाना चाहते हैं तो हमें अपना स्नेह देना पडेगा।

हम अपना स्नेह ससार की सब वस्तुओ को नही दे पाते, यही कारण है कि ससार की कुछ वस्तुएँ हमें सुन्दर लगती हैं और कुछ असुन्दर। परन्तु सृष्टि मे कोई वस्तु असुन्दर या सुन्दर नही। सभी भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। सब हमारा स्नेह चाहती हैं। स्नेह पाकर ये हमें प्रसन्नता देती हैं, सन्तुष्टि देती हैं, सुख तथा सुन्दरता हमें मिलती है। किसी ने कहा है—"मनुष्य कुछ देकर ही कुछ पाता है।" यही बात सुन्दरता पाने के लिए भी सत्य है। कभी-कभी हम चेष्टा करने पर भी किसी-किसी वस्तु को स्नेह नही दे पाते और यही कारण है कि उसमें हमें सुन्दरता कभी नही दिखाई पड़ती। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि हम

हारकर अपना स्नह देना रोक दें। यदि हम निरन्तर अपना स्नेह लुटाते चलें तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि वह वस्तु हम पर अपनी सुन्दरता न लुटाये, बुझते दीपक में स्नेह पडते ही वह प्रकाशमय हो उठता है। कला में सौन्दर्य तभी मिल सकता है जब हम उसे अपना स्नेह देंगे।

कलाकार का व्यक्तित्व

मनुष्य ने वर्तन वनाये जिनका कार्य वस्तु को अपने अन्दर रखे रहना है। घर वनाये जिनका कार्य उनके अन्दर रहनेवाली वस्तुओ को धूप, पानी, हवा इत्यादि हानिकारक वस्तुओ से वचाना है। रथ या सवारी वनी जो मनुष्य या वस्तुओ को एक जगह से दूसरी जगह ले जाती है। इसी प्रकार वडी-वडी मशीनें, मोटर, इजन, वायुयान, पानी का जहाज इत्यादि मनुष्य के लिए कार्य करने के लिए वनाये गये। अर्थात् मनुष्य ने जितनी वस्तुओ का निर्माण किया सभी उसका कार्य करती हैं। ये सभी वस्तुएँ मनुष्य ने अपने आनन्द तथा सुविधा के लिए वनायी। इन सवका आधार मनुष्य की क्रियात्मक प्रवृत्ति है। मनुष्य हर समय कुछ न कुछ कार्य किया करता है जव तक वह जाग्रत अवस्था में रहता है। हम कह सकतें हैं, मनुष्य का कार्य, कार्य करना है अर्थात् कार्य करनेवाले मानसिक जीव को हम मनुष्य कहते हैं। जो कार्य करता है वही मनुष्य है। जिस प्रकार मनुष्य की वनायी वस्तुएँ अपना-अपना कार्य करती हैं, उसी प्रकार प्रकृति की वनायी वस्तुएँ अपना-अपना कार्य करती हैं। मनुष्य भी प्रकृति की एक वस्तु है और वह भी प्रकृति, सृष्टि के लिए कार्य करता है। जिस प्रकार मनुष्य की बनायी वस्तुएँ मनुष्य का कार्य करती हैं, उसी प्रकार प्रकृति की वस्तुएँ जिनमें मनुष्य भी सम्मिलित है, प्रकृति का कार्य करती हैं। मनुष्य कार्य करके कलाकार कहलाता है, उसी प्रकार प्रकृति भी अपना कार्य कलाकार की भाँति करती है। ससार की जो भी वस्तु कार्य करती है, वह कलाकार का कार्य करती है। मधुमक्खी अपने हजारो छिद्रवाले सुन्दर छत्ते वनाती है, जो मनुष्य की कला से किसी प्रकार भी कम नही। फूलो से रस चुन-चुन कर शहद वनाती है, क्या यह किसी चीनी की मिल से कम महत्त्वपूर्ण कार्य करती है? इसी भाँति प्रकृति की सभी वस्तुएँ सुन्दरता के साथ अपना-अपना कार्य करती जाती हैं और ये सभी वस्तुएँ कला का कार्य करती हैं।

'कलाकार' शब्द मनुष्य का वनाया हुआ है, वह कलाकार के अर्थ में उस व्यक्ति को समझता है जो कला का कार्य करता है। इसमे केवल मनुष्य आता है, प्रकृति के अन्य कलाकार नही। यही नही, मनुष्यो में भी साधारणतया हम सभी को कलाकार नही

कहते। कलाकार हम उसे कहते हैं जो कोई विलक्षण रचना करता है, जैसा सभी व्यक्ति नही करते, जैसे संगीत का कार्य, चित्र का कार्य, नृत्य का कार्य, मूर्ति का कार्य, काव्य का कार्य, साहित्य का कार्य इत्यादि। इतने से ही हम सन्तुष्ट नही होते और कलाकार का अर्थ हम और संकुचित करते हैं। उसी को कलाकार समझते हैं जो सत्यम्-शिवम्- सुन्दरम् का ज्ञाता होता है। सबसे सूक्ष्म कलाकार हम परमात्मा या ईश्वर को समझते है। यह हमारी मानसिक वाजीगरी का स्वरूप है। कलाकार तो सम्पूर्ण मनुष्य जाति है, सृष्टि की प्रत्येक वस्तु है। अर्जुन को श्री कृष्ण ने महाभारत में अपना विराट रूप दिखाया, जिसमें समस्त भूमण्डल तथा त्रिलोक सम्मिलित था। इस दृष्टिकोण से कलाकार ईश्वर ही नहीं त्रिलोक है, अर्थात् त्रिलोक की प्रत्येक वस्तु कलाकार है, प्रत्येक जीव कलाकार है, प्रत्येक मनुष्य कलाकार है।

गीता में कर्म को मनुष्य के जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कर्म करना मनुष्य का धर्म वताया गया है। कर्म करनेवाला ही कलाकार हो सकता है। जो भी कर्म करता है वह कलाकार है, अर्थात् कला का कार्य करना ही मनुष्यत्व है। प्रत्येक मनुष्य के लिए कलाकार वनना आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य के लिए कला का कार्य करना आवश्यक है। कला का कार्य करने का अधिकार केवल कुछ चुने हुए व्यक्तियो के लिए ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिए है। मनुष्य का लक्ष्य कलाकार वनना है। मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में कला-वृत्ति आवश्यक है। मनुष्य की सुकीर्ति, विकास, प्रगति तथा जीवन सभी कला पर आधारित हैं। ससार की प्रत्येक जाति का उत्थान कला के कार्य पर आधारित है।

प्राचीन भारत, चीन, रोम तथा ग्रीस का उत्थान उनकी कला पर आधारित था। कोई देश या जाति कला का निरादर नही कर सकती। किसी देश या जाति का जव प्रत्येक व्यक्ति कलाकार की भाँति कार्य करता है, तभी उस जाति या सभ्यता का विकास होता है, उत्थान होता है।

प्राचीन भारत में कलाकार शब्द के स्थान पर शिल्पी शब्द प्राप्त होता है। आज भी शिल्पी शब्द प्रचलित है। साधारणतया हम शिल्पी के अर्थ में केवल मूर्तिकार तथा भवन निर्माणकार को समझते हैं। परन्तु प्राचीन भारत में शिल्पी सम्पूर्ण विद्याओ का द्योतक था।

श्री गोविन्दकृष्ण पिल्लई अपनी पुस्तक में लिखते हैं—

"प्राचीन समय में जव कलाकार तथा दस्तकार में भेद नही था, हिन्दू जाति 'शिल्पी'

शब्द का व्यवहार कलाकार, भवन-निर्माणकार तथा मूर्तिकार को सम्बोधित करने के लिए करती थी, जिसके कार्य की परिधि विज्ञान जैसे गणितशास्त्र तथा ज्योतिषशास्त्र तक पहुँचती थी।

अक्सर शिल्पी शब्द का भाषान्तर करते हुए इसको मूर्तिकार या भवन-निर्माणकार के रूप में व्यवहार किया जाता है। यह इन शिल्पियो के साथ अन्याय है। शिल्पी शब्द इतना व्यापक है जितना शिल्पशास्त्र और दोनो को अभेद्य स्थान प्राप्त है।

निश्चित ही शिल्पी को भारत में बहुत उच्च स्थान प्राप्त था। 'मानसार' के अनुसार ज्ञात होता है कि शिल्पी के लिए वेदो तथा शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त करना सबसे प्रारम्भिक कार्य था।

'मानसार' के अनुसार चार प्रकार के शिल्पी बताये गये हैं—स्थपति, सूत्रग्रही, वर्धकी तथा तक्षक। स्थपति शिल्पी सबसे उत्तम समझा जाता था। ऐसे शिल्पी के लिए प्रत्येक शास्त्र तथा वेद का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था, अर्थात् उसका ज्ञान सम्पूर्ण होना आवश्यक था। वह सम्पूर्ण ज्ञान का आचार्य समझा जाता था। वह अन्य शिल्पियो का आचार्य था।

सूत्रग्रही भी सभी वेदो तथा शास्त्रो का पण्डित होता था और रचना तथा अलंकरण में दक्ष होता था। वर्धकी शिल्पी भी वेदो तथा शास्त्रो का ज्ञाता था। वह प्रमाण-शास्त्र में दक्ष होता था। वह कुशल चित्रकार तथा निपुण गुणग्राही होता था।

तक्षक शिल्पी को भी वेदो तथा शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था। उसे अपने कार्य में कुशल होने के अतिरिक्त सामाजिक, विश्वासी तथा दयालु होना पड़ता था। सभी शारीरिक तथा मानसिक कार्यो में दक्ष होना आवश्यक था। वह काष्ठ-कला, वास्तु-कला, मूर्तिकला, लौह-कला तथा चित्रकला में कुशल होता था।

इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मार्कण्डेय ऋषि तथा वज्र के कला-सम्बन्धी वार्तालाप में कुशल चित्रकार या कलाकार वह माना गया है जिसने मूर्तिकला, चित्रकला, नृत्यकला, सगीतकला, सभी का अध्ययन भली-भाँति किया हो और धर्म शब्द इतना व्यापक है कि इसमें मनुष्य के सभी कार्य आ जाते हैं।

शुक्रनीतिसार में चौसठ कलाओ का वर्णन है तथा बत्तीस विज्ञानो का, और यह सभी वेदो तथा शास्त्रो में निहित है। इन सभी का ज्ञान प्राप्त करना शिल्पी के लिए आवश्यक था। यह कहना कठिन है कि इस प्रकार के उस समय कितने शिल्पी थे या यह केवल एक

आदर्श ही था। परन्तु यदि यह केवल आदर्श भी रहा हो तो बहुत ही सुदृढ, सुन्दर तथा अनुमोद्य है। ऐसे शिल्पी आधुनिक समय में तो शायद ही कही हो, परन्तु आज हमारी कल्पना मे भी ऐसा शिल्पी नही आता, जिस प्रकार आज हमारी कल्पना में यह नही आता कि प्राचीन विशाल तथा भव्य मन्दिर जो आज भी भारत की शिल्पकला का गौरव बचाये हुए है, किस प्रकार निर्मित हुए होगे।

हम प्राचीन अजन्ता तथा बाग इत्यादि की चित्रकला देखकर अपने प्राचीन कलाकारो पर आश्चर्य प्रकट करते है। मीनाक्षी, मदुरा, खजुराहो, भुवनेश्वर के भव्य मन्दिर, आगरे का ताजमहल देखकर हमारे आधुनिक कलाकार तथा इजीनियर दाँतो तले अँगुली दबाते है। इनकी कला उनके सामने एक पहेली-सी दीखती है। इनका अनुमान लगाना कठिन हो जाता है। हमें यह स्वीकार करना पडता है कि वे कलाकार या शिल्पी महान् थे और यह भी अनुमान करना पडता है कि इन शिल्पियो का ज्ञान कितना व्यापक था। जो कुछ भी प्राचीन उदाहरण प्राप्त है, वे हमारी आँखें खोलने के लिए पर्याप्त है।

यहाँ हमारा यह तात्पर्य नही है कि आज हम भी वेदो, शास्त्रो तथा तमाम विद्याओ के पण्डित होकर कला का कार्य करें, परन्तु यह अवश्य है कि हम आँख मूँदकर बिना पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किये कला का कार्य कर ही नही सकते। जिस भाँति ससार के अन्य व्यक्तियो के लिए ज्ञान आवश्यक है, उसी भाँति कलाकार के लिए भी। कलाकार ससार के व्यक्तियो से न्यून नही है। उसकी भी वही आवश्यकताएँ है जो औरो की। जिस प्रकार शिक्षा औरो के लिए आवश्यक है, वैसे ही कलाकार के लिए भी। कलाकार को भी पूर्ण शिक्षित होना चाहिए। कलाकार को भी बहुमुखी ज्ञान की आवश्यकता है। उसका व्यक्तित्व सामजस्यपूर्ण होना चाहिए। उसमें भी मस्तिष्क, हृदय तथा कार्य कुशलता के सभी गुण होने चाहिए। उसे केवल चित्र बनानेवाला, गानेवाला, या नाचने वाला ही नहीं होना चाहिए। जो ज्ञानी है, शिक्षित है, सामजस्यपूर्ण व्यक्तित्ववाला है, जो रचना का कार्य करता है वही कलाकार है।

आधुनिक समय म भारतीय कलाकार वे ही अधिकतर है जो किसी कारणवश शिक्षा प्राप्त नही कर सके, इसका पूर्ण अवसर उन्हें प्राप्त नही हो सका, उनका शिक्षा की ओर मन नही लगता था। जो मस्तिष्क के प्रयोग से डरते थे और कोई भी मानसिक तथा शारीरिक कार्य करने में असमर्थ थे, वे ही हारकर कलाओ के पथ पर अग्रसर होते थे, यह समझ कर कि वे हाथ का काम कुछ कर सकते है, अर्थात् 'टैक्निकल' ज्ञान प्राप्त कर सकते है, वे किसी प्रकार जीवन-निर्वाह करने के लिए कोई न कोई इस प्रकार की कला सीखते

है। परिणाम यह है कि आज का कलाकार केवल वह है जो रगो से चित्र बना सकता है, गले से गा सकता है या मिट्टी के पुतले बना सकता है।

आधुनिक भारत में अभी ऐसे बहुत से कलाकार है। आधुनिक अग्रोन्मुख भारत के उत्थान मे इनका क्या योग हो सकता है, यह विचारणीय है। आज हमें चित्रकार या गानेवाले तथा नाचनेवाले युवक नही चाहिए बल्कि ऐसे कलाकार चाहिए जिन्होंने सुन्दर जीवन की कल्पना की है और जो भारतीय समाज को सुन्दरता प्रदान कर सकते है, जो अपनी कला के आधार पर एक सुन्दर, सुदृढ, प्रगतिशील भारत की कल्पना कर सकते है जो मस्तिष्क, हृदय तथा शरीर के गुणो से सम्पन्न है।

चित्रकला

चित्रकला क्या है, इसे समझने के पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि कला क्या है ? जितने मुख उतनी ही परिभाषाएँ कला की हैं, इसलिए यह नही कहा जा सकता कि उनमें सर्वग्राह्य कौन-सी है। कला क्या है, इसे समझने के लिए हमें कला और प्रकृति का वैषम्य समझने की आवश्यकता है। कला और प्रकृति ये दोनो पर्यायवाची शब्द नही है। जो कला है वह प्रकृति नही और जो प्रकृति है वह कला नही, केवल यही भली-भाँति समझ लेना ही कला का अर्थ समझ लेना है।

ईश्वर प्रकृति को रचता है और मनुष्य कला को उरेहता है, अत. मनुष्य जो कुछ भी रचता है वह कला की वस्तु कहलाती है, जैसे—मूर्ति, संगीत, काव्य, चित्र, नृत्य, भवन, मोटर या विस्फोटक बम आदि। परन्तु विस्फोटक बम या भवन बनानेवाले को हम कलाकार नही कह सकते। उन्हें हम इजीनियर या वैज्ञानिक इत्यादि कहते हैं। निस्सन्देह सब एक से एक बड़े कलाकार है, क्योकि यह सभी रचना का कार्य है। मनुष्य की रचना है इसलिए यह कला है। इस तरह तो प्रत्येक मनुष्य, अध्यापक, वकील, बढई, लोहार, डाक्टर, किसान, माली या ससार का कोई भी काम करनेवाला कुछ न कुछ रचना करता है और इसीलिए उसकी रचना कला है और वह भी कलाकार है। इस तरह मनुष्य की किसी भी रचना को हम कला कह सकते है।

मनुष्य की सभी रचनाएँ प्राय तीन मनोवैज्ञानिक परिस्थितियो में हुआ करती है, चेतन, अर्धचेतन तथा अचेतन। मनुष्य की चेतन रचनाएँ उत्तम कोटि की रचनाएँ समझी जाती हैं। अर्धचेतन या अचेतन की रचनाएँ भी कला है, पर उनके लिए मनुष्य पूर्ण उत्तरदायी नही होता, इसलिए कला की दृष्टि में उनका अधिक ऊँचा स्थान नही है। मान लीजिए मरुस्थल में एक पथिक पदचिह्न बनाता चला जा रहा है, यात्रान्त दूर की किसी ऊँचाई से कोई इन पदचिह्नो को देखता है जो कि देखने में बहुत सुन्दर लगते हैं। पर इन चिह्नो को यदि पथिक ने अनजाने में बनाया है तो उसके लिए वह पूर्ण उत्तरदायी नही। इसलिए यह उस मनुष्य की सर्वोत्तम कला नही कही जा सकती। पर यदि एक मनुष्य इसी भाँति

वालू पर जान-बूझकर कुछ रचना अपने पद-चिह्नो से करता है तो यह कला कहलायेगी और यह कला अच्छी भी हो सकती है। इसलिए मनुष्य ने चेतन स्थितियो की रचना को ही प्रधानता दी है।

चेतन रचनाएँ भी दो प्रकार की हैं—एक रचना वह है जो भौतिक सुख के लिए होती है और दूसरी वह जो आत्मिक सुख के लिए होती है। जैसे खेती करना भौतिक सुख के लिए है और माली का सुन्दर उपवन लगाना आत्मिक आनन्द के लिए है। भिक्षा मांग-नेवाली नर्तकी का नृत्य भौतिक सुख के लिए होता है, पर आत्मा के आनन्द के लिए भी नर्तकी नृत्य करती है। भौतिक कामो में आनेवाली रचना में अधिक अभ्यास तथा कल्पना नही रहती, पर आत्मिक आनन्द प्राप्त करने के लिए अभ्यास तथा कल्पना की और भी आवश्यकता पडती है। इसीलिए कुछ कलाओ को निम्न तथा कुछ को उच्च स्थान मिला है। जैसे—नृत्य, सगीत, काव्य, चित्रकला आदि उत्कृष्ट कलाएँ मानी जाती हैं।

चित्रकला एक आत्मरञ्जन की वस्तु मानी जाती है। इसमें भी मनुष्य की चेतनकला का सवसे वडा स्थान है। ऐसे तो किसी भित्ति पर कुछ भी खीच दिया जाय कला है और कोई चित्रकार कुछ भी खीच ले, कलाकार कहला सकता है। पर सवसे महान् कला तथा सवसे महान् कलाकार की परख उसकी कल्पना-शक्ति में है। चित्रकला रचना करने का एक माध्यम है। कला की शाला में किसी भी विद्यार्थी को चित्र-निर्माण की शिक्षा दी जा सकती है, पर किसी को कल्पना करना नही सिखाया जा सकता। यह एक देन होती है जो किसी में अधिक तथा किसी में कम होती है। ईश्वर एक महान् कल्पना का स्रोत माना गया है, इसीलिए उसकी रचना प्रकृति भी महान् है।

चित्रकला-साधना प्रारम्भ में प्राकृतिक वस्तुओ के अनुकरण से की जाती है। उससे भी उत्कृष्ट रचना प्रकृति को अपनी कल्पना के अनुसार चित्रित करके की जा सकती है, पर सर्वोत्कृष्ट रचना तो वह है जिसमें प्रकृति के परे की कल्पना को चित्रित किया जाता है। ईश्वर ने प्रकृति की जो कल्पना की है वह उसकी अपनी कल्पना है, किसी का अनुकरण नही। मनुष्य भी ईश्वर वनने का प्रयास करता है और इसीलिए चित्रकार भी अपनी कल्पना को ही प्रधानता दे देता है और उसी को चित्रित करना चाहता है। अतः वे कलाकार सर्वोत्तम होगे जिनकी कल्पना अपनी होगी और प्रकृति से परे होगी। चित्रकार जव अपने रग और तूलिका से अपनी कल्पना को किसी भित्ति, कागज अथवा कण्टान पर उतारता है तो वह चित्र कहलाता है। चित्र वनाने के अनेको माध्यम है और हो सकते है, जैसे—कोयला, खडिया, मिट्टी, पेंसिल, जल-रंग, तेल-रंग इत्यादि।

चित्रकला मनुष्य की उस रचना को कहते है जिसमें मनुष्य अपनी कल्पना को अथवा किसी प्राकृतिक वस्तु या किसी भी वस्तु को रग के माध्यम से किसी भित्ति पर उरेहता है या अकित करता है। चित्रकला की जीवन में उपयोगिता क्या है और उसके अभ्यास के लिए हमें किस ओर विशेष प्रयत्नशील होना चाहिए, इसका ज्ञान वहुत आवश्यक है अर्थात् चित्रकला के लक्ष्य अथवा ध्येय से भी हमें पूर्ण परिचित होना चाहिए जिससे हम उसी के अनुसार कार्य कर सकें।

आरम्भ में चित्रकला प्रतिलिपि के रूप में किसी वस्तु अथवा दृश्य के अनुकरण मात्र के आधार पर की जाती थी, जैसे प्रागैतिहासिक कला के एक जगली भैंसे का चित्र। उन वस्तुओ के भी चित्र वना लिये जाते थे जहाँ किसी आकृति या दृश्य का कोई मुख्य प्रयोजन होता था और लोगो को दिखाने के लिए उसे कालान्तर तक सुरक्षित रखने की आवश्यकता प्रतीत होती थी। परन्तु आज चित्रकला केवल इन्ही दोनो उद्देश्यो की पूर्ति के लिए नही, अपितु साहित्य या कविता की तरह अपने मनोभावो को व्यक्त करने के लिए भी की जाती है।

चित्रकला की भाषा

मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते सदैव इस प्रयत्न में रहा है कि वह अपनी अनुभूतियो, भावनाओ तथा इच्छाओ को दूसरे से व्यक्त कर सके और दूसरो की अनुभूतियो से लाभ उठा सके। इसके लिए उसे यह आवश्ययकता पडी कि वह अपने को व्यक्त करने के साधनो तथा माध्यमो की खोज तथा निर्माण करे। इसी के फलस्वरूप भापा की उत्पत्ति हुई और काव्य, सगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला इत्यादि कलाओ का प्रादुर्भाव हुआ। ये सभी हमारी भावनाओ को व्यक्त करने के माध्यम हैं। कोई अपनी भावनाओ को भापा द्वारा व्यक्त करता है, कोई चित्रकला द्वारा तथा कोई नृत्य द्वारा। लक्ष्य तथा आदर्श सव का एक ही है, केवल माध्यम भिन्न-भिन्न हैं। इन्ही माध्यमो को हम उन कलाओ की भापा कह सकते हैं। काव्य और गद्य की भापा शव्दो, अक्षरो तथा स्वरो की हैं। सगीत की भापा स्वर है। नृत्यकला की भापा मुद्रा है और मूर्तिकला की भापा रूप तथा आकार है। इसी प्रकार चित्रकला की भापा रूप, रग, आकार और रेखा हैं। जिस प्रकार काव्य का आनन्द लेने के लिए शव्दो का अर्थ जानना आवश्यक है, उसी प्रकार चित्रकला का आनन्द लेने के लिए उसमें आये हुए आकारो, रूपो, रेखाओ तथा रगो का अर्थ जानना नितान्त आवश्यक है। शव्द का रूप सूक्ष्म है, वह केवल किसी वस्तु या भावना का प्रतीकमात्र है। उसी प्रकार विभिन्न प्रकार की रेखाएँ, आकार, रग तथा रूप विभिन्न प्रकार की वस्तुओ तथा भावनाओ के द्योतक हैं। नारगी शव्द से एक मीठे

फल की भावना तथा रूप कल्पना में आता है, परन्तु नारंगी शब्द नारगी नही है, नारगी तो एक फल है। उसको नारगी कहकर केवल सम्बोधित किया जाता है। हम किसी को बिना कुछ दिये कहें कि यह लो नारगी, तो यह कितना निरर्थक होगा ? उसी प्रकार चित्र में नारगी का केवल एक प्रतीक बनाया जा सकता है, जो स्वत नारगी नही हो सकता। चित्र में बनी नारगी में वे सभी गुण नही हो सकते, जो नारगी के फल में होते हैं। चित्र में नारगी फल की भावना केवल दर्शायी जाती है और उसे देखने से हमारे भीतर नारगी फल के और गुणो का भी काल्पनिक रूप से बोध हो जाता है। इस प्रकार यह बहुत आवश्यक है कि हम चित्रकला के चिह्नो, प्रतीको तथा भाषा को अच्छी तरह समझ लें ताकि दूसरो के व्यक्त किये भावो को समझ सकें और उनका आनन्द ले सकें।

चित्रकला की भाषा के मुख्य अग रेखा, आकार, रूप तथा रग हैं। वैसे यदि हम चित्रकला की भाषा को रूप की भाषा कहें तो अनुचित न होगा, क्योकि रेखा, रग तथा आकार सभी रूप के अन्तर्गत हैं। और फिर रूप के और भी टुकडे किये जा सकते हैं, जैसे प्रकाश, अन्धेरा, धुँधलापन, रगो की गहराई, छाया इत्यादि। परन्तु चित्रकला को भाषा की सुविधा के लिए हम तीन भागो में विभाजित करते हैं और वे हैं—रेखा, रूप तथा रग।

रेखा

रेखाओ का भारतीय चित्रकला में एक मुख्य स्थान है। प्राचीन चित्रकला में रेखाओं का अध्ययन बहुत ही गहरा मिलता है। रेखाओं से चित्रकला में विभिन्न विधियो से कार्य लिया जाता था और उनका स्थान चित्रकला में रग और रूप से पहले आता था, क्योकि रेखाओ से ही रूप का निर्माण होता है। इतिहास से पूर्व के जो भी चित्र मिलते हैं उनमें भी रेखाओ की प्रधानता रही है। ब्राह्मण तथा बौद्धकालीन चित्रो में भी रेखा प्रधान थी। अजन्ता की सारी चित्रकला रेखाओ के विज्ञान पर ही निर्मित है। रेखाओ के उतार-चढाव में एक आश्चर्यजनक जादू-सा दिखलाई पडता है। उनकी रेखाओ में जीवन झलकता है। केवल प्राचीन भारत में ही नही, बल्कि उस समय की और दूसरे देशो की कला में भी रेखाओ का महत्त्व बहुत था। चीन, जापान, जावा, लका, फारस इत्यादि अनेक देशो में वहाँ की चित्रकला का प्राण उनकी रेखाएँ रही हैं। रेखा-शक्ति पर जितनी खोज इन देशो में हुई है उतनी कदाचित् अन्य देशो में नही हुई। रेखाओ का जादू तो हमें प्राचीन चित्रो में देखने से मिल जाता है, पर कला का जो विद्यार्थी रेखाओ का वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहता है उसे ऐसे प्राचीन ग्रथ उपलब्ध नही हैं, जिनसे वह उनका शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर सके। आधुनिक भारतीय चित्रकारो को यह ज्ञान ढूँढना चाहिए और उनका अपनी चित्रकला में प्रयोग करना चाहिए।

रेखाओ से चित्र में दिशा-निर्देशन किया जाता है। कभी धीरे-धीरे, कभी वेग से चलकर, ऊपर से नीचे की ओर भारी होकर या अनायास इधर-उधर दौड़कर रेखाएँ विभिन्न प्रकार के मनोभावो को इंगित कर सकती हैं, विभिन्न प्रकार के विचारो, भावो, मनोभावो तथा मनोवेगो को उत्पन्न करती है। हलकी रेखा अस्पष्ट होकर दूरी का बोध कराती है। गहरी स्पष्ट रेखा निकटता की द्योतिका है। गहरी रेखा से शक्ति तथा दृढता का आभास होता है। अधिक गहरी रेखाएँ आत्मविश्वास तथा दुराग्रह की द्योतिका भी हैं। रेखाओ में मोटापन, क्षीणता एव उतार-चढाव लाकर कोमलता, सुकुमारता तथा नीरसता का ज्ञान कराया जा सकता है। जब रेखाओ में प्रगति होती है तब ये मनोभावो को ऊपर ले जाती हैं और वीरता या शूरता का बोध कराती हैं। जब रेखाएँ क्षीण होकर चलती हैं, तो सन्देह, अनिश्चितता तथा दौर्बल्य का भास होता है। रेखाएँ मन के विभिन्न भावो को बडी सरलता से व्यक्त कर सकती हैं। रेखा से ही रूप और आकार की भी रचना होती है। जिस प्रकार साहित्य में या भाषा में क्रिया के बिना भाव-प्रदर्शन नही हो सकता, उसी भाँति चित्रकला में रेखाओ के बिना किसी क्रिया का बोध नही कराया जा सकता।

सीधी खड़ी रेखाएँ ऊपर की ओर उठकर मन को ऊपर ब्रह्माण्ड की ओर ले जाती हैं। उनके सहारे मन ऊपर चढता जाता है और एक काल्पनिक जगत् की ओर अग्रसर होता है। ये मन को जटिलता से उठाकर एकाग्रता की ओर खीचती हैं। इसीलिए मन्दिर, मसजिद, गिरजे इत्यादि के भवन अधिकतर अत्यन्त ऊँचे बनाये जाते हैं। उनके भवनो की ऊँचाई देखकर मन भी ऊँचे उठता है। मन में स्पष्टता, दृढता और पवित्रता का बोध होने लगता है। इस तरह खडी रेखाएँ कल्पना तथा एकाग्रता का प्रतीक हो जाती हैं और इनका उपयोग करके चित्र में ये भाव सरलता से लाये जा सकते हैं।

इसके विपरीत पड़ी रेखाएँ मन को ऊपर न उठाकर एक सीमा में बाँध देती हैं, जिससे मन एकाग्र न होकर इधर-उधर उन पड़ी रेखाओ के साथ दौड़ने लगता है। इस प्रकार की रेखाएँ सासारिकता की द्योतिका हैं। इन रेखाओ में प्रगति की कमी का आभास होता है। ये मनुष्य के विचारो को भी एक सीमा में बाँध देती हैं और शक्ति न देकर दौर्बल्य का बोध कराती हैं। लेटे हुए और खडे हुए दोनो मनुष्यो को देखने से विपरीत भाव उत्पन्न होते हैं। सोया हुआ व्यक्ति शक्तिहीन ज्ञात होता है। खड़ा हुआ क्रियाशील जान पड़ता है। प्राचीन काल में जब राजा विजय करके लौटता था तो एक ऊँचे से ऊँचा विजयस्तम्भ बनवाता था और यह विजयस्तम्भ कभी भी पडा हुआ नही बनाया जाता था। इसका ऊँचा तथा सीधा खड़ा होना अत्यन्त आवश्यक था।

घनत्ववादी चित्र



पर्दे की ओट में

इस प्रकार विभिन्न प्रकार की रेखाओ के योग से विभिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न किये जा सकते है ।

रंग

चित्रकला में सबसे अधिक महत्त्व रंग को दिया जाता है । इसका कारण यह है कि मनुष्य की दृष्टि रगीन वस्तुओ पर पहले जाती है, तब सादी वस्तुओ पर। यदि किसी वस्तु की ओर हमें लोगो की दृष्टि आकृष्ट करनी हो तो उसमें सबसे पहले अत्यन्त चटकीला भडकीला रंग देना पडता है। वैसे तो बहुत से पक्षी घरो में पाले जाते है, पर तोता अधिक पसन्द किया जाता है, क्योकि उसका रंग बहुत आकर्षक होता है । यह बात मनुष्य की प्रकृति में बचपन से ही होती है। बचपन में लड़के लाल रगकी वस्तुएँ अधिक चाहते है, क्योकि वे अधिक भडकीली और चमकीली होती है ।

पर जैसे-जैसे हम बड़े होते जाते है वैसे-वैसे हमारी अभिरुचि कुछ विशेप रंगो की ओर होने लगती है । कोई नीले रंग के वस्त्र चाहता है, कोई हरे और कोई लाल । इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि मनुष्य की शान्त, उग्र, सरल, हँसमुख, लजीली तथा उद्दण्ड, जैसी प्रकृति होती है वैसा ही शान्त रग, गर्म रग, शीतल रंग, मटमैला रंग वह चुनता है। बहुत से लोग किसी का वस्त्र और उसका रंग ही देखकर बडी सरलता से उसका स्वभाव और चरित्र जान लेते है । इसका कारण है कि प्रत्येक रंग की अपनी एक विशेषता, स्वभाव तथा मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है । यदि कोई व्यक्ति विभिन्न रगो की विशेपताओ से परिचित हो तो वह बहुत सफलता से ये सब बातें बता सकता है। इसी तरह चित्रकला में भी यदि चित्रकार को रंग और उसके स्वभाव का पूर्ण परिचय या अध्ययन हो तो वह अपने चित्रो में रगो का इस प्रकार प्रयोग कर सकता है कि उन रगो को देखकर और उनके गुणो को पहचान कर कोई भी यह जान सकता है कि चित्र में किस तरह के स्वभाव या मनोभावों का वर्णन है । जिन चित्रकारो ने रगो का इस प्रकार वैज्ञानिक ढग से अध्ययन करके चित्राकन किया है, निस्सन्देह उनके चित्र उतने ही प्रभावशाली है और वे उतने ही कुशल चित्रकार है। इसी प्रकार जो लोग चित्रो को केवल देखकर आनन्द उठाना चाहते है, उनके भी अध्ययन का एक वैज्ञानिक आधार होना चाहिए और तभी वे चित्रो का पूरा आनन्द प्राप्त कर सकते है । नीचे हम प्रधान रंगो के मनोवैज्ञानिक प्रभाव का विवरण दे रहे है ।

रंगों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

लाल रग हृदय में शक्ति पैदा करता है। इसे देखने से शरीर में एक तरह की धडकन और हलका कम्पन पैदा होता है और चित्तवृत्ति में एक तरग पैदा हो जाती है। शरीर की पेशियो में खिचाव-सा आने लगता है, खून का दौरा वढ जाता है और सास जल्दी-जल्दी चलने लगती है। सुर्ख लाल रग या टूनी गुलनार-सा रग मन को चुस्त, जोशीला तथा तेज वना देता है। मनुष्य के मन पर इससे अधिक गहरा प्रभाव और किसी दूसरे रग का नही होता। इसलिए चित्र में लाल रग का प्रयोग वहुत सोच-समझ कर करना चाहिए।

लाल रंग से देशभक्ति और धार्मिक अनुराग पैदा होता है। इस रग से कभी-कभी गर्मी, हलचल, खुशी, आनन्द, सुख और इन्द्रियोत्तेजन होता है। लाल रग देखने मे सवसे अधिक गाढा, आँख को सवसे जल्द दिखाई पडनेवाला, जोशीला, भडकीला होता है। इसीलिए यह भय का द्योतक भी है। लाल रग कभी-कभी क्रोध, क्रूरता, दयाहीनता, कठोरता, कुटिलता, निर्दयता का भी प्रभाव डालता है। इससे लालच, इन्द्रियलोलुपता, काम, यातना, घृणा और ध्वस की भावना भी पैदा होती है। लाल रग अधिक देखते रहने से मनुष्य की चित्तवृत्ति अपने कावू में नही रहती।

अव नारगी रग को लीजिए। इसमें एक तरह की हलकी गर्मी होती है, जो वहुत उष्ण या तीक्ष्ण नही होती, परन्तु सहने लायक मुलायम और मातदिल होती है। यह रग वल-वर्धन करता है। इससे जीवन तथा शक्ति का सचार होता है। मध्यम श्रेणी का नारगी रग सासारिकता की ओर घसीटता है और कभी-कभी सडन तथा गदगी का भी द्योतक होता है। पीला रग ज्योति का द्योतक है। इसको देखने से मन में ज्ञान और प्रकाश का भास होता है। इसका प्रभाव सीधे मस्तिष्क पर पडता है और भावो को प्रेरित करता है तथा पारलौकिकता की ओर मन को ले जाता है। वुद्धि को प्रखर करता है। पीला रग सवसे स्वच्छ और प्रकाशमय होता है। इससे पवित्रता, ज्ञान तथा धार्मिकता का वोध होता है। इसलिए धार्मिक मनुष्य पीला रग-पसन्द करते हैं। ईश्वर, देवी-देवताओ को अधिकतर पीला वस्त्र ही पहनाया जाता है। पीले रग से मन का पाप, अधर्म, अशान्ति तथा रोग भागते हैं। पीले रंग से रक्त-सचार में गति उत्पन्न होती है जिससे वदनमें स्फूर्ति आती है। परन्तु गन्दा पीला रग मनुष्य को अधर्मी तथा डरपोक वनाता हैं।

अव हरे रग की वारी आती है। हरा रंग शीतलता, स्फूर्ति तथा पुनर्जीवन की ज्योति

जगाता है, बलवर्धक है नवशक्ति-सचारक होता है। इस रंग से न तो मन मे बहुत घबराहट ही पैदा होती है और न दिल की सुस्ती ही देखने को मिलती है। इसलिए यह रग शान्ति का द्योतक है। शीत प्रकृति का रग होने से शरीर तथा मन की चचलता और बेचैनी को दूर भगाता है। मन की गर्मी तथा शारीरिक ताप ज्वरादि को कम करता है। अधिक परिश्रम करनेवाले व्यक्तियो की आत्मा को इस रग से आराम मिलता है। जो लोग हरा रग पसन्द करते है उनमें स्वत्व की मात्रा बहुत अधिक होती है। हरा रग अधिक देखने से या इस रग की चित्र में बहुलता होने से मन में शक्ति, कल्पना, ओज, नये विचार, सूक्ष्मता का मूल्य समझने की शक्ति, अपनापन तथा समृद्धि की वृद्धि होती है। हरा रंग अधिकाश जनता के पसन्द का रग है। यह लुभानेवाला, मन को स्वच्छ करनेवाला होता है। पर गन्दे हरे रग का प्रभाव डाह, शत्रुता तथा स्वार्थपरता बताता है।

अब बारी आती है नीले रग की। यह रग भी मन को पारलौकिकता की ओर ले जाता है। यह स्वच्छ, शीतल तथा शुद्ध होता है। यह रग सत्य का द्योतक है। इसके भी दर्शन से गन्दगी, रोग, कलुपता मिट जाती है। इस रग का प्रभाव बिजली या चुम्बक जैसा होता है और मन के अन्धकार को दूर करता है। यह शान्ति, अहिंसा, कल्पना तथा गूढ तत्त्वो के निर्देशन की गवेषणात्मक शक्ति प्रदान करता है। अन्त करण में इस रग का सुखद-शीतल और शान्तिप्रद प्रभाव पडता है। यह हमें एकाग्रता, विचारशीलता, अभिनव कल्पना और मौलिक रचना की ओर प्रेरित करता है। परन्तु मध्यम श्रेणी के नीले रंग का प्रभाव इसके विपरीत ही होता है।

लाल, पीला, हरा, नीला के अलावा एक और रग है, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वह है बैंगनी रग। यह रग अपने में जादू का-सा असर रखता है। यह रहस्यमय तथा धार्मिक बलिदान की प्रवृत्ति पैदा करता है। यह काल्पनिक तथा स्वप्निल भावो को जगाता है। मन पर इसका प्रभाव धुंधलापन, भावनाओ की दृढता प्रदान करनेवाला तथा सासारिकता से ऊपर उठानेवाला होता है। इसका प्रयोग सद्वृत्तियो के प्रकाशनार्थ किया जाय तो यह मन को सत्य, उच्चतम आदर्श तथा मर्यादा की चरम सीमा की ओर अग्रसर करता है। यह मनुष्य को माया-मोहरहित, निश्चेष्ट, क्षणभगुर तथा निस्सारोन्मुख करता है। यह मन में एकता का भाव उत्पन्न करता तथा आत्मा को विशुद्ध ज्ञान की ओर प्रेरित करता है। प्राचीन काल में यह रग धैर्य तथा बलिदान के निमित्त प्रयुक्त होता था और प्रायश्चित्त तथा तप का प्रतीक समझा जाता था। उस समय यह रग कठिनाई से तैयार होता था, अत. यह कीमती रंग समझा जाता था और इसका प्रयोग दरबारो के

अतिरिक्त और कही नही होता था। रोम के वैभव-काल में यह रग राजकीय रग समझा जाता था। यह रग जितना कलात्मक है उतना ही भावात्मक भी। यह विवेक की प्रवृत्ति, रहस्योद्घाटन और अदृश्यता को समझाने की शक्ति प्रदान करता है। हलका वैगनी रग पश्चात्ताप तथा उदासीनता का बोध कराता है।

इन रंगों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन और प्रयोग से उनका मनोभावात्मक प्रभाव ज्ञात हो सकता है। इस प्रकार उन रगो की जानकारी प्राप्त कर हमें उनका प्रयोग विवेक-पूर्वक अपने चित्रो में करना चाहिए। तभी हम अपने भावो को जोरदार तथा प्रभावशाली बना सकते हैं। रगो के अध्ययन में एक बात सदैव स्मरणीय होनी चाहिए कि किसी रग के हलके तथा गाढे रंग का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। जैसे चमकदार गाढ़ा बैंगनी रग मन को उदासीनता की ओर ले जाता है। स्फूर्ति लद्धडपन में परिणत हो जाती है।

शीत और उष्ण प्रकृतिवाले रंग

रगो के प्रभाव के अनुसार उन्हें पहले दो भागो में बाँटा जाता है—उष्ण और शीत प्रकृतिवाले रंग। सौर रंग-सिद्धान्त के अनुसार सूर्य की किरणें जब कोणाकार शीशे में से छनकर निकलती है तो उनसे छ रंग बनते है, लाल, नारगी, पीला, हरा, नीला और बैंगनी। ये रग इसी क्रम से एक दूसरे के पश्चात् दिखाई देते है। पहलेवाले तीन रग—लाल, नारंगी और पीला—सबसे अधिक चमकीले होते है, अर्थात् ये रंग सूर्य की गर्मी को सबसे अधिक छिटकाते या फैलाते है और इसीलिए ये उष्ण कहे जाते है। पीछे वाले रग—हरा, नीला, और बैंगनी—कम चमकीले और कम भड़कीले होते है, अर्थात् वे सूर्य की गर्मी अपने में अधिक खीचते है और नष्ट कर देते है। इसलिए वे ठडक पहुँचाते है, अत वे ठंडे रंग कहे जाते है। इसी प्रकार मनुष्य की प्रकृति भी ठडी और गर्म होती है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में इसी प्रकार ठंडक और गर्मी होती है। इसी ठंडक और गर्मी का जिस मनुष्य पर जितना प्रभाव पड़ता है, वैसा ही उसका स्वभाव तथा चरित्र बन जाता है।

अब रग तथा उसकी प्रकृति से हम परिचित हो गये। यदि हम विचार करके निश्चित कर लें कि कौन-से विचार तथा मनोभाव ठडे और गर्म है तो उन्ही के अनुसार रंगो का प्रयोग करके हम वैसा ही प्रभाव अपने चित्रो द्वारा दूसरो पर डाल सकते है। इस प्रकार सृष्टि की ठडी वस्तुओ को हम केवल ठडे रगो से चित्रित कर सकते है और गर्म वस्तुओ को गर्म रगो से। सूर्य हमें देखने में उजला और चमकीला लगता है और वैसा

ही चित्रित भी किया जाता है, पर उसे यदि कोई लाल रग से चित्रित करे तो वह और प्रभावशाली लगेगा और अपनी प्रकृति के अनुसार ही चित्रित होगा। बहुत से पौराणिक भारतीय चित्रो में बहुधा सूर्य को लाल रग से ही चित्रित किया गया है। रगो के प्रभाव और उनकी आवश्यकताओ की उपयोगिता का विचार करके ही भारतीय चित्र निर्मित हुए हो, ऐसा देखने में बहुत कम आता है, प्रधानत वे चित्र जो बीसवी शताब्दी के प्रारभिक काल से पूर्व या बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक पचास वर्षो में बने हैं। इसका मुख्य कारण यही रहा है कि रंग और उनकी विशेषताओ को अच्छी तरह समझने का बहुत कम प्रयत्न हुआ है। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में और बीसवी शताब्दी के आरभ में भारतवर्ष में जो चित्रकला उपजी है, वह पाश्चात्य कला का अनुकरणमात्र ही रही और वह भी बहुत मध्यम श्रेणी की। इस समय कुछ चित्रकार ऐसे भी थे जो अपने को पौर्वात्य कहते रहे और अपने चित्रो को आदर्शवाद के भीतर सम्मि-लित करते रहे। जिन लोगो पर पश्चिम की छाप पडी, उनके रगो का प्रयोग केवल सृष्टि के अनुकरण मात्र तक ही सीमित रहा। वे आंखो से जैसा चित्र देखते थे वैसा ही उसमें रग भर देते थे और उसमें वे अपनी ओर से सोच-विचार कर रगो का वैज्ञा-निक प्रयोग नही करते थ। पौर्वात्य चित्रकार अपने को भारतीय प्राचीन कला-परंपरा का अनुयायी बताते रहे और उन्होंने उसको समझने और उसके अनुसार चलने का प्रयास भी किया, पर खोज का काम अधिक न हो सका। उन्होने केवल प्राचीन चित्रो का ही आश्रय लिया और उन्हीका अनुकरण किया, जैसा वे समझ सके उसीके अनुसार चित्रकारी करने लगे। यदि कोई अजन्ता से प्रभावित हुआ तो वह उसी तरह के रूप, वैसे ही रगो का प्रयोग अपने चित्रो में करने लगे। वह इस ओर नही झुका कि रगो के चुनाव का आधार क्या था, जानने का प्रयत्न करता। मुगल चित्रकार सभी चित्रो में अधिकतर लाल चमकदार रग भरते थे, अत इन चित्रकारो ने अन्धाधुन्ध अनुकरण करना प्रारभ किया। ऐसा उन्होंने किसी विवेक से नही किया। इस प्रकार के दोनो ही चित्रकार यदि कभी अपने आदर्शों का अतिक्रमण भी करते तो केवल इतना ही कि वे अपनी रुचि के रगो को भी अपने चित्रो में स्थान देने लगे थे, जिसके लिए उनके पास अपना कोई सिद्धान्त नही था, केवल प्रतिक्रियात्मक प्रयोग से वे समझने का प्रयत्न करते थे कि कहा कैसा रग अच्छा लगेगा। चित्र बनाने की कसौटी या पहचान यह थी कि अच्छा या सुन्दर चित्र कैसे बनेगा। इसके भी कोई निश्चित सिद्धान्त नही थे, केवल तात्कालिक प्रयोग की सहायता से वे जान लेते थे कि कौन-सा रग कहां सुन्दर लगता है। यदि चित्र में क्रोधी रावण चित्रित करना है तो उसका वस्त्र वे हरे या नीले रग का भी बना सकते थे, क्योंकि वह

उनकी रुचि का रंग है और वह रंग चित्र में फवता भी है। इसी प्रकार रुचि पर निर्भर रहनेवाले प्रत्येक रग का प्रयोग चलता रहा। परिणाम यह हुआ कि आज जव चित्र-कला का विद्यार्थी चित्रकारी आरम्भ करने वैठता है तो वह वडी कठिनाई में पडता है कि उसके सामने रग प्रयोग के कोई स्थिर सिद्धान्त नही है।

पर आज चित्रकला का विद्यार्थी आँख मूँदकर काम नही करना चाहता। वह कला के सिद्धान्तो का अध्ययन कर चित्रालेखन करना चाहता है जिससे वह उनमें नवीनता ला सके और दूसरो को एक उचित मार्ग दिखा सके। चित्रकला अव एक रहस्यपूर्ण कला न रहकर वैज्ञानिक ढग से चलना चाहती है जिससे सभी उसके मार्मिक सिद्धान्तो तथा उसके सौन्दर्य का आनन्द ले सकें।

अव तक भारतीय भापाओ में चित्रकला का वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वहुत कम विश्लेपण हो पाया है। पुराणो में भी तत्सम्वन्धी वर्णनो का अभाव है, वे उनके विषय में कुछ थोडा ही कहकर चलते वने है। आज इन सव कारणो से चित्र-कला के विद्यार्थी के सामने अध्ययन करने में अनेको कठिनाइयाँ है। जो विद्यार्थी आँख खोलकर वैज्ञानिक ढग से चित्र-विद्या का अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें यह एक नये विपय की भाँति जान पडती है। फिर भी सिद्धान्तो में इतना विरोध तथा उनकी इतनी कमी होने पर भी कला के नवीन विद्यार्थी जिज्ञासु की भाँति आगे वढ रहे है और इस प्रकार की खोज में अग्रसर हो रहे हैं।

अभी तक रग के महत्त्व और उसकी सीमा के विपय में वहुत ही कम खोज भारत में हो पायी है। अभी तक अजन्ता के रगो का लोग पता नही लगा सके कि वे कौन रंग हैं और कैसे वनाये गये हैं, जो इतने वर्ष वीत चुकने पर भी वज्रलेप के समान विलकुल नवीन प्रतीत हो रहे हैं। किन सिद्धान्तो पर वहाँ रंग का प्रयोग हुआ है इसका पता अव कुछ चलने लगा है। आधुनिक भारतीय चित्रकारो में रग पर खोज करनेवाले डा० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री नन्दलाल वोस, श्री यामिनी राय तथा अमृतशेर-गिल के ही नाम सामने आते हैं। इनमें रग पर सवसे अधिक अध्ययन अमृतशेर-गिल का समझा जाता है। अमृतशेर-गिल की खोज चाहे कैसा भी महत्त्व क्यो न रखती हो, उनके सभी चित्रो में रग की महत्ता का स्पष्ट दर्शन होता है। उनके रग-सिद्धान्त के विपय में हम विशेप नही लिखेंगे, परन्तु ऐसा जान पडता है कि उन्होने वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनो ही ढगो से रगो का प्रयोग और अध्ययन किया है। यामिनी राय ने रगो के सरल-तम प्रयोग ही किये है, इसलिए उनके चित्रो में सरलता तो है पर गम्भीरता का अभाव है। उन्होने कुछ चुने-चुनाये रगो का ही प्रयोग किया है पर वडी ही सावधानी और

खोज के पश्चात् । अवनीन्द्रनाथ ठाकुर तथा नन्दलाल बोस का अधिक समय रग-चित्रण सम्बन्धी अन्वेषण में ही बीता, पर इसमें भी साहित्य की कमी से उनको अधिक सामग्री नही प्राप्त हो सकी, केवल उसकी एक झलक-सी ही उनको प्राप्त हुई है। वास्तव में यह प्रयास बडे महत्त्व का है, यदि इस शैली के चित्रकार इससे आगे भी कुछ अधिक खोज को बढा सकते। इसलिए खोज का कार्य भावी चित्रकारो को चलाते रहना चाहिए, जिससे चित्रकला के सिद्धान्त बन सकें और भारत की चित्रकला का विकास अधिकाधिक हो सके।

चित्र -सयोजन

किसी भी कला में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य सयोजन का होता है। कुछ विचारक तो कला का तात्पर्य किसी भी वस्तु की रचना-क्रिया से समझते है। जैसे कवि शब्दो के चयन से, और सगीतज्ञ स्वरो के मेल से सरस सयोजन करते है, चित्रकार भी रूप-रग के उचित सम्मिश्रण तथा अनुपात से सयोजन कर चित्र का निर्माण करता है। सयोजन प्राय सभी करते है, परन्तु जिसका सयोजन जितना ही विलक्षण और सुन्दर होता है उसका चित्र उतना ही आकर्षक होता है।

सयोजन का महत्त्व वस्तुओ के अलकरण मात्र से कदापि नही है, हाँ, विभिन्न वस्तुओ के सयोजन से अद्भुत चमत्कार अवश्य उत्पन्न किये जा सकते है। आज विद्युत्, वायुयान, रेडियो तथा ऐटम बम आदि वस्तुओ का आविष्कार हो चुका है। यह सर्वविदित है कि गधक और पोटास के सयोजन से पटाखे का निर्माण होता है, हलदी और चूने के सम्मिश्रण से एक प्रकार का लाल रग (रोरी) निर्मित होता है। चूने और हलदी का अनुपात या सयोजन जैसा होगा, वैसा ही गाढा या हलका लाल रग बनेगा। इसलिए किसी भी रचनात्मक कार्य में सयोजन का कार्य बहुत ही विलक्षण होता है। प्रत्येक कला मे सयोजन के कुछ न कुछ सिद्धान्त स्थिर कर लिये जाते है, जिससे इच्छानुसार उस सयोजन का प्रभाव और परिणाम ज्ञात हो सके। आपको नारगी रग बनाना है। शुद्ध लाल तथा शुद्ध पीले के सम-सयोजन से नारगी रग बनता है। इसमें यदि लाल के साथ नीले रंग का सयोजन करें तो हम कदापि अपने प्रयत्न में सफल न हो सकेंगे। अत चित्रकला-सयोजन-सिद्धान्त को बिना समझे चित्राकन नही किया जा सकता। जो चित्रकार इस प्रकार के सिद्धान्त-रहित चित्र बनाया करते है उनके चित्र उसी प्रकार के होते है जैसे किसी कूडाखाने में कूडा, जिसमें असख्य वस्तुएँ बिना किसी सयोजन-सिद्धान्त के फेंक दी जाती है और उनका परिणाम यह होता है कि वे सब मिलकर सडती है तथा दुर्गन्ध उत्पन्न करती है।

सगीत-ससार के अमर कलाकार तानसेन में क्या विशेषता थी, जो अपने सगीत के प्रभाव से मदान्ध दिग्गजो को भी टस से मस नही होने देता था, रुग्ण हृदयो को स्वास्थ्य-दान देता था, बुझे दीपो को ज्योति-दान करता था और शून्य नभमण्डल में मेघमालाएँ बुलाकर अजस्र-रसधार से सतप्त हृदयो को रससिक्त करता था। इसका रहस्य क्या था ? कहना न होगा कि वह था उसका एक प्रौढ और सयत स्वर-सयोजन-सिद्धान्त। चित्रकला लोक में ऐसा चमत्कार और कही नही मिला, इसका कारण स्पष्ट है कि चित्र-कलागत रूप-रंग-सयोजन परिपक्व न हो पाया। यदि हमें भारतीय चित्रकला के वास्तविक रूप का दिग्दर्शन करना है, उसे जीवन के उच्च.दर्श की वस्तु बनाना है, तो हमें सयोजन के सुगम तथा शुद्धतम सिद्धान्तो का अन्वेषण करना होगा। चित्रकला तभी सार्थक होकर समाज का कल्याण कर सकेगी। खेद का विषय है कि इस प्रकार के बहुत ही कम सिद्धान्त हमें ज्ञात है और हमारा पौराणिक साहित्य भी इस सम्बन्ध में प्राय मौन है। ऐसी परिस्थिति में भावी चित्रकार ही सिद्धान्तो का अनुसधान कर चित्रकला में पथ-निर्देशन के लिए उत्तरदायी है।

'सयोजन' प्रबन्ध का ही दूसरा नाम है या इसे निबन्ध भी कह सकते हैं। कभी एक वस्तु का और कभी कई वस्तुओ का संयोजन किया जाता है। एक कमरे में एक मेज अलकरण की दृष्टि से रखना है, यह एक वस्तु का सयोजन है। यदि एक मेज, चार कुर्सी, एक रेडियो और एक आलमारी किसी कमरे में सुसज्जित करना है, तो यह कई वस्तुओ का सयोजन होगा। इन सभी वस्तुओ को कमरे में अस्त-व्यस्त छोड देने से कमरे का स्वाभाविक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अधिकाश वस्तुओ का उपयोग आवश्यकतानुसार भी हुआ करता है। ऐसा देखा गया है कि लोग वातायन के सन्निकट ही मेज व्यवस्थित करते है, जिससे मद-मंद शीतल गन्धवाहक वायु का आनन्द मिलता रहे। उससे लगा आलमारी का क्रम रहता है, जहाँ से वस्तुएँ सरलता से आवश्यकतानुसार बाहर-भीतर कर सकें। समीप में ही इसकी ओर निद्रा-देवी के आतिथ्य-सत्कार के लिए पलग सुसज्जित रहता है। उसके निम्न भाग में मक्खियो के सहभोज के लिए पीकदान और वही पार्श्व में भोजन के व्यञ्जनो से भरा थाल। यह है एक आलस्य-पूर्ण सयोजन सिद्धान्त, जहाँ न स्वास्थ्य का ही हित-चिंतन है और न तो आत्मिक आनन्द का ही। आगन्तुक के लिए तो एक क्षण एक युग हो जाता है। इस प्रकार के अस्त-व्यस्त सयोजित चित्र अथवा कुप्रबन्ध से निर्मित चित्रो को देखकर, हमारे मनोभाव हमें बाध्य करते है कि उन चित्रो को हम नष्ट कर दें। इन चित्रो से आत्मरञ्जन तो दूर रहा, इन्हें देखकर एक प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव ही पडता है। चित्रांकन का उद्देश्य है आत्म-सतुष्टि और

उसके सफल सयोजन का तो इतना मूल्य है कि वह परिस्थिति निर्माण करके जगद्‌व्यापी भावना से एक-एक प्राणी का अन्त करण भर कर शील और श्रद्धा को हृदय में बैठा दे।

चित्र-सयोजन का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण अग लक्षणात्मक सयोजन भी होताहै। एक वयोवृद्धा सिर पर गट्ठर का भार लिये, हाथ में भग्न लकुटि के सहारे निर्जन पथ पर, ठूठ के समीप से गोधूलि के लडखडाते अशुमाली के साथ पग मिलाती हुई चित्रित की गयी है। चित्र का शीर्षक है 'पथिक की सन्ध्या'। इस चित्र में वयोवृद्धा के सिर का बोझ उसके जीवन का बोझ लक्षित कराता है, भग्न-दड खण्डित सुहाग, शुष्क-वृक्ष जीवन की नश्वरता का सदेश और लडखडाते पग वृद्धि के ह्रास की व्यञ्जना कराते हैं। सरस-तरु तथा बाल-रवि के माध्यम से चित्र-सयोजन का वह अभीप्ट भाव लक्षित करने में हम सर्वथा असफल सिद्ध होगे, जिसका वर्णन अभी कर आये है।

चित्र-सयोजन कभी-कभी इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, जब हम उसे वैज्ञानिक ढग से चित्रित करते हैं। इसके और भी प्रकार होते हैं जिनकी चर्चा यहाँ अप्रासगिक होगी। प्रारभिक अवस्थाएँ क्या है, जिनके आधार पर रुचिकर सयोजन किया जाता है। हमने अपनी बैठक के सामने एक उपवन लगाने के लिए माली से आग्रह किया। वह सम्पूर्ण भूमि गोडकर, कही आलू, कही सेम और अस्त-व्यस्त ढग से यत्रतत्र फूलो की क्यारियाँ बना देता है। यहाँ सम्भवत प्रश्न उठता है कि इसमें आने-जाने का मार्ग कहाँ है? केशर, गुलाब की क्यारियो में पहुँच कर उनके सरस-रस का गन्धपान करने का स्थान कहाँ है? माली का ध्यान अपनी सयोजन-विहीनता की ओर आता है, और उसे भलीभाँति ज्ञात हो जाता है कि वह अपना काम उचित ढग से करना नही जानता। एक दूसरा चित्र है 'गाँव के निकटवर्ती खेतो का चित्रण"। चित्रकार कागज को गाँव के घरो और पेडो से इस प्रकार भर देता है कि खेत बनाने का स्थान कागज में नही के बराबर बच पाता है। इस प्रकार यदि प्रबन्ध की एक पूर्व निश्चित बाह्य रूपरेखा स्थिर किये बिना ही चित्र-सयोजन किया जाय तो निस्सदेह वह एक हँसने-हँसाने की ही वस्तु होगी। अत सफल चित्राकन में सयत तथा सुन्दर प्रबन्ध की कल्पना नितान्त आवश्यक होती है। यह सब तभी सभव है जब हमें सयोजन-सिद्धान्त का पूर्ण ज्ञान हो।

कतिपय विद्वानो तथा कलाकारो के विचार से सफल-सयोजन की भावना विशेष अध्ययन बिना ही क्रमश स्वत उत्पन्न हो जाती है। उन्हें भय है कि सयोजन के निश्चित निष्कर्ष कठोर नियमो में परिणत होकर कलाकार के चित्रो की स्वाभाविकता तथा

मौलिकता की इतिश्री कर देंगे। हमारा ध्यान इस ओर जाना चाहिए कि सयोजन का अर्थ यह नही है कि दूसरो के वनाये हुए नियमो को सुविचार किये विना ही प्रयोग में लाया जाय। नियामक चाहे जितना महान् और वुद्धिमान् क्यो न हो कुछ निष्कर्षों का उचित उपयोग अवश्य है, जिनकी महत्ता व्यक्तिगत अनुभव से ही हृदयगम की जा सकती है। नियम का अन्धाधुन्ध अनुसरण प्राय. हानिकर सिद्ध हुआ है। नियम की सत्ता विश्वसनीय और अविश्वसनीय दोनो ही हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वानुभव से नियमो को परख कर अपना एक व्यवस्थित नियम वनाना चाहिए क्योकि दूसरो के निष्कर्षों पर भरोसा नही किया जा सकता। मनुष्य स्वत किसी गुरुतर कार्य के लिए तव तक नही उद्यत होता, जव तक कि उस कार्य की श्रेष्ठता में उसका व्यक्तिगत विश्वास न हो और यह विश्वास उसके व्यक्तिगत अनुभव तथा अनुसधान से ही उत्पन्न हो सकता है। किन्तु हमारा अनुसन्धान अवश्य ही विवेकपूर्ण होना चाहिए, अन्यथा वहुत सभव है कि हम जीवन पर्यन्त चित्राकन करके भी चित्र के लिए अनेक आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण गुणो को न जान पायें और छोड दें।

अनुपात

प्रत्येक चित्र में प्राय किसी एक पक्ष को सवसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस पक्ष को हम 'मुख्य-विषय' कहते है। मुख्य-विपय के लिए यह आवश्यक नही है कि वह कोई एक ही वस्तु या आकृति हो वरन् वह कई वस्तुओ का एक समूह भी हो सकता है। चित्र के जो भाग मुख्य विपय में सम्मिलित नही रहते, उन्हें हम 'गौण विषय' कहते है। चित्रकला प्रारम्भ करनेवाले विद्यार्थी कभी-कभी अपने चित्रो में मुख्य विषय की अपेक्षा गौण विषय को अधिक प्रधानता देते है। इसी तरह कभी-कभी वे अपने चित्र में रिक्त स्थान अधिक छोडकर प्रधान विपय को वहुत छोटा रूप दे देते है, जिससे उसकी प्रधानता का भाव नष्ट हो जाता है।

सयोजन के सिद्धान्तो में ध्यान देने योग्य वात यह है कि चित्र में प्रधान विषय को ही महत्त्व मिलना चाहिए और गौण वस्तुएँ भी इसीलिए चित्रित की जायें कि वे प्रधान विपय को और भी उभार दें। यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि मुख्य विषय गौण वस्तुओ से दवने न पाये।

ऐसा सयोजन प्राप्त करने के लिए चित्र में दी हुई वस्तुओ के अनुपात में मुख्य वस्तु को सवसे वडा वनाना चाहिए। मान लीजिए, आपको कृष्ण की मुरली का चित्र वनाना है। ऐसा करने के लिए कोई एक वडा दृश्य वना सकता है, जिसमें एक उपवन में कृष्ण

जी बैठे हुए हैं और मुरली बजा रहे हैं । इस चित्र में उपवन को बहुत महत्त्व दिया गया है और सबसे बडा कृष्ण को बनाया गया है । इस चित्र को हम 'कृष्ण की मुरली' शीर्षक नही दे सकते, क्योकि यहाँ मुरली से अधिक महत्त्व कृष्ण को दिया गया है और कृष्ण के पास मुरली तो सदैव रहती ही है । इस चित्र को हम 'कृष्ण' कह सकते हैं और इसलिए यह हमारा सही सयोजन नही कहा जायगा ।

दूसरा चित्र ऐसा है जिसमें केवल एक मुरली बनी हुई है । इसको देखकर यह तो कहा ही नही जा सकता कि यह कृष्ण की मुरली का चित्र है ।

तीसरे चित्र में एक मुरली बनी हुई है जिसके पास एक मोर का पख पडा हुआ है और चित्र में इन्ही दोनो वस्तुओ को प्रधानता दी गयी है । यह चित्र कृष्ण की मुरली का यथार्थ चित्र होगा तथा यह सयोजन सही कहा जायगा । मुरली के समीप मोरपख देखकर कृष्ण की मुरली का ज्ञान भी हो जाता है और मुरली की प्रधानता भी रहती हैं ।

इसलिए चित्र बनाते समय हमें यह सदैव समझ लेना चाहिए कि कौन-सी वस्तुएँ चित्र का मुख्य विषय हैं और कौन-सी गौण ।

दूसरी बात जो हमें सम्बन्धित अनुपात के विषय में जाननी चाहिए, यह है कि एक दिये हुए क्षेत्र में किसी वस्तु को हम किस स्थान पर रखें कि उस वस्तु का और उस क्षेत्र का एक रुचिकर सम्बन्ध हो । मान लीजिए एक वृत्त को एक वर्ग के भीतर इस तरह से रखना है कि वह रुचिकर हो । यदि उसको समवर्ग के ठीक मध्य में रख दिया जाय तो चारो दिशाओ में समानान्तर स्थान खाली रहेगा और देखने में वह चित्र बिलकुल प्रभावहीन होगा । जैसे रात में यदि चन्द्रमा बिलकुल सिर पर उगे तो वह देखने में बहुत रुचिकर नही लगता । उसी प्रकार यदि चन्द्रमा सारे आकाश में कही दृष्टिगोचर न होकर आकाश के किसी एक कोने में दृष्टिगोचर हो तो वह पृथ्वी से इतना समीप रहता है कि वह पृथ्वी की वस्तुओ का ही एक अंग-सा मालूम पडने लगता है और उसका सौन्दर्य पूरी तरह निखारने में पृथ्वी की वस्तुएँ बाधक-सी हो जाती है । परन्तु यदि चन्द्रमा आकाश में देखनेवाले की दृष्टि से लगभग ६० अक्षाश के ऊपर निकले तो वह सबसे अधिक रुचिकर प्रतीत होता है, क्योकि उसका और पृथ्वी का ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि अपने स्थान पर पृथ्वी और चाँद दोनो ही सुन्दर लगने लगते हैं । यह बात आप स्वय भी अनुभव कर सकते हैं ।

इसी प्रकार समवर्ग के भीतर यदि वृत्त को कोने में रख दिया जाय तो शेष स्थान का वृत्त से सम्बन्ध बहुत ही असन्तुलित हो जायगा और उन दोनो वस्तुओ में कुछ भी एकता

नही जान पड़ेगी। तीसरा ढग — वृत्त को समवर्ग में इस तरह रखा जाय कि न व
मध्य में ही हो, न विलकुल कोने में ही वल्कि समवर्ग की चारो भुजाओ से उसक
सम्वन्ध भिन्न-भिन्न हो। यह सम्वन्ध चित्र में औरो से अधिक रुचिकर प्रतीत होता है।

वस्तुओं में रुचिकर सम्वन्ध

जव चित्र में एक से अधिक वस्तुओ को चित्रित करना हो तो यह आवश्यक नही है कि
सभी वस्तुएँ एक-दूसरे से विलकुल भिन्न या दूर-दूर दिखाई जायँ। जिन चित्रो में इस वा
का ध्यान नही रहता उनमें दृष्टि को विविध वस्तुओ को अलग-अलग देखना पडता
और देखनेवाला एक ही साथ पूरे चित्र का आनन्द नही उठा पाता, जो वहुत ही आवश्य
है। इस तरह चित्र की एकता नष्ट हो जाती है और विविध वस्तुएँ विविध मन प
विविध प्रभाव डाल कर चित्त को एकाग्रता और शाति तो नही देती, प्रत्युत अशान्ति
उत्पन्न करती है।

कभी-कभी एक वस्तु का केवल एक भाग ही चित्र में दिखाया जाता है, शेप चित्र क
परिधि से कटा रहता है—जैसे पेड की डाल, उस पर चिड़िया और वगल में चन्द्रमा
कभी एक वस्तु का कुछ भाग दूसरी वस्तु के पीछे भी पड़ जाता है जैसे चौका और वेलन
दोनो ही परिस्थितियो में यह ध्यान रखना चाहिए कि वस्तुएँ एक दूसरे से ऐसी न दव जा
कि पहचानी न जा सकें। जव किसी वस्तु का कोई अग चित्र के वाहर कट गया हो त
भीतरवाला अग दृष्टि को मुख्य विषय की ओर इगित करता है। इससे चित्र और भ
रुचिकर हो जाता है और मुख्य विषय की प्रधानता वढ जाती है, जैसे—पेड की डाल औ
चिड़िया के चित्र में। अगर पूरा पेड़ दिखाया जाय तो चिड़िया इतनी छोटी हो जाती
कि मुख्य विषय गौण हो जाता है।

कभी-कभी चित्र में जव दो वस्तुओ को अलग-अलग दिखाना अनिवार्य हो जाता
ऐसी स्थिति में उसे किसी दूसरी वस्तु से इस प्रकार जोड देना चाहिए कि चित्र की एकत
नष्ट न हो। जैसे 'मुसाफिर' और 'पगडडी' के चित्र में।

आकृतियों का संयोजन

जव एक से अधिक आकृतियो का सयोजन करना हो तो इस वात का अवश्य ध्या
रखना चाहिए कि वे सब एक ही स्थिति में एक ही ढंग से न रखी जायँ, चाहे वे सव एक
ही कार्य कर रही हो। हाँ, यदि कही सैनिक एक साथ सचरण कर रहे हो या कुछ स्त्रिय
एक साथ कतार में नाच रही हो तव तो उन्हें एक स्थिति में दिखाना ही पडेगा, यद्यपि

उसमें भी इस तरह की एक ही स्थिति में सभी वस्तुएँ नही होगी। जैसे—सेनापति सामने अलग खडा होकर आज्ञा दे रहा होगा और दूसरे उपसेनापति भी अलग दिखाई पड़ेंगे। इसी तरह नृत्य में भी नायिका सभवत कोई दूसरा ही रूप दिखा रही होगी।

इस तरह सयोजन करते समय खडे होने, बैठने, झुकने, लेटने इत्यादि सभी स्थितियो का सम्मिश्रण होना चाहिए। किसी का सामने का रूप, किसी की पीठ, किसी का आधा भाग, किसीका चौथाई भाग दिखाई पडेगा। इस प्रकार की सैकडो स्थितियाँ हो सकती है, पर आवश्यकता के अनुसार चुनकर एक रुचिकर सयोजन करना चाहिए। वैसे तो चित्र-कलाकार को इस तरह की स्थितियाँ चुनने की पूरी स्वतत्रता है, पर यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि चित्र में रूढता न आने पाये, वल्कि चित्र में भाव-वैचित्र्य की वस्तुएँ रहें ताकि देखने में चित्र भोडे न जान पडें।

पुनरावृत्ति

चित्रकला में भी काव्यकला तथा सगीतकला के अनुसार लय तथा छन्द गति लाने के लिए कुछ रेखाओ, कुछ रगो और कुछ रूपो को दोहराने की आवश्यकता पडती है। जैसे—सगीत में कुछ झनकारो और कविता में कुछ शब्दो को वार-वार दोहराना पडता है, उसी प्रकार चित्रकला में कुछ आकारो को वार-वार कई स्थानो में दिखाना पडता है। इससे चित्र में एकता वढ जाती है। रगो से भी यह एकता लायी जाती है। सध्या समय सूर्य की लाल किरणें जव सृष्टि के पदार्थों पर पडती है तो सभी में कुछ लालिमा आ जाती है। इसी प्रकार चित्र में रगो को वार-वार दुहराना पडता है। पर इस तरह की पुनरावृत्ति का वहुत ही सावधानी से प्रयोग करना चाहिए। इतना अधिक प्रयोग नही होना चाहिए कि वही प्रधान होकर खटकने लगे। विचारपूर्वक यदि यह पुनरावृत्ति की जाय तो चित्र में वहुत वल आ जाता है, रोचकता वढ जाती है और सगीत की तरह चित्र में भी चित्ताकर्षक भाव उत्पन्न हो जाता है जो मन को अत्यधिक आनन्दित करता है। आवश्यकता से अधिक ऐसा करने से चित्र में खीचतान के द्वारा एक रूढता उत्पन्न हो जाती है और वह चित्र केवल वाजीगर के विस्तार-सा ही रह जाता है।

ऊपरी सतह की बनावट

इससे तात्पर्य किसी रूप या आकारके खुरदुरेपन, चिकनेपन, चमक, कोमलता, कठोरता, जाला, काटे, या उसके इस तरह के और किसी अन्य ऊपरी स्तर की रचना से होता

है। मान लीजिए, एक लीची का फल चित्रित करना है। वैसे तो पके हुए बड़े लाल बैर का रंग और आकार भी लीची-सा ही होता है। इसमें अन्तर केवल ऊपरी स्तर की बनावट में होता है। यदि चित्र में भी लीची का काटेदार स्तर न बनाया जाय तो उसे पहचानना कठिन हो जायगा। इसी प्रकार बहुत-सी वस्तुओं के ऊपरी स्तर की बनावट एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होती है। इसलिए वस्तुओं को सही रूप में चित्रित करने के लिए चित्रकार को इसके ऊपरी स्तर का पूर्ण ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

चित्र या वस्तुओं में ऊपरी स्तर की बनावट केवल उन्हें पहचानने में ही सहायता नहीं देती, वरन् उनको देखने से मनुष्य के मनोभावों पर भी भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी तेल की सतह देखने से मन में किचकिचाहट-सी उत्पन्न होती है। एक सुन्दर सुकुमार बालक की कोमल देह की कोमलता को देखकर एक युवती की त्वचा को देखकर और एक मल्ल के गठे हुए शरीर की त्वचा को देखकर मन में भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न होते हैं। संगमरमर के धवल चिकने को देख-कर और झाँवा पत्थर की ऊपरी सतह को भी देखकर मनमें भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए वस्तुओं के ऊपरी स्तर की बनावट का भी चित्र में विशेष महत्त्व है।

प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में विभिन्न प्रकार के ऊपरी स्तर दिखाई पड़ते हैं। यदि ऐसा न होता तो सम्भवत. विभिन्न वस्तुएँ उतनी रुचिकर न जान पड़ती। एक अच्छे चित्र में भी वस्तुओं के ऊपरी सतह में पर्याप्त विभिन्नता होनी चाहिए। इससे चित्र में रुचि और अधिक बढ़ जाती है।

यह हमें आरम्भ से ही जान लेना चाहिए कि वस्तुओं में ऊपरी स्तर की बनावट विभिन्न प्रकार की होती है। जब भी हम किसी वस्तु को देखें या उसका निरीक्षण करे तब हमें उसके ऊपरी स्तर का भलीभाँति निरीक्षण कर लेना चाहिए। केवल उसे देख लेने से ही काम न चलेगा। वस्तुओं के ऊपरी स्तर की विभिन्न रचनाओं के ज्ञान के लिए उन्हें छूकर उनके विषय में जानना आवश्यक है। यदि वह संभव हो तो, बच्चों में यह बात आरंभ से ही होती है। एक वर्ष से कम उम्र का शिशु भी किसी भी नयी वस्तु को देखकर उसे छूना चाहता है। उसका तात्पर्य यही होता है कि वह विभिन्न वस्तुओं की ऊपरी बनावट को भी पहचानना चाहता है। प्रत्येक चित्रकला के नये विद्यार्थी को वस्तुओं के ऊपरी स्तर का ज्ञान करने के लिए चाहिए कि जब भी वे कोई वस्तु देखें या उसका अध्ययन करें तो उसे छूकर अच्छी तरह जान लें, ताकि वे उस ज्ञान को अपने चित्र में भी अंकित कर सकें।

भाव और कल्पना

आधुनिक चित्रकारों द्वारा अंकित अधिकांश चित्र देखकर हमें ऐसा प्रतीत होता [illegible] उन्होंने अब ऐसा चित्राङ्कन प्रारम्भ कर दिया है, जिनमें [illegible] भाव और कल्पनाएँ हैं। उन चित्रों को देखकर यह [illegible] प्रधान रूप में क्या चित्रित किया गया है। ऐसी स्थिति में [illegible] कि चित्रकार कुछ जानता नहीं, केवल यह हम [illegible] पत्रिकाओं में आज ऐसे अनेकों चित्र देखने को मिल [illegible] तथा मनोभावात्मक चित्र कह सकते हैं। इन सभी चित्रों में [illegible] है। कभी-कभी तो इन चित्रों की कल्पनाएँ अलौकिक-सी [illegible] कल्पना के परों से उड़कर एक ऐसे अलौकिक लोक में [illegible] मन्दाकिनी में डूबकर दिव्य तत्त्वों और तथ्यों को निकाल [illegible] निर्माण करता है। आधुनिक चित्रकला भाव और कल्पना की [illegible] है। कला-क्षेत्र में प्रकृति अनुकरण की जो धारा [illegible] रही है वह उचित कल्पना और भाव के अभाव में [illegible] भावहीन-कला निम्न स्तर की कला समझी जाती है।

भाव और कल्पना की महत्ता तथा उपयोगिता [illegible] का विषय होना चाहिए। चित्रकला का विद्यार्थी अपने जीवन का [illegible] प्रदत्त अगम्य आकारों तथा उनके रंगों-रूप्य [illegible] करने में लगाये, तो यह कार्य कदापि समाप्त न होगा [illegible] होगी। प्रकृति का यथार्थ चित्रण अनभव नहीं तो कठिन [illegible] करना कला का उद्देश्य नहीं है। यदि हमें [illegible] की प्रखर प्रतिभा को पल्लवित करना होगा। [illegible] जायगा, जिससे हमारी नवीन सृष्टि का श्रीगणेश होगा। [illegible] हमारी कल्पना-शक्ति और उदात्त-भाव स्वयं विकसित हो उठेंगे।

चित्रकार कलाकी कार्यप्रणालियों का ज्ञाता होते हुए भी यदि [illegible] सकता तो उसका सब ज्ञान व्यर्थ-सा ही है। कल्पना और भाव [illegible] मौलिक रचना कर सकते हैं। कल्पना एक ऐसी शक्ति है [illegible] अग्रसर करती है। कल्पना से भाव उत्पन्न होते हैं और भावों [illegible] हो जाते हैं।

कल्पना सुमन की सुवास है। कल्पना-शक्ति सभी मनुष्योंमें रहती है, किसी में कम, किसी में अधिक। मानवीय उन्नति चाहे वह कला के क्षेत्र की हो, या दर्शन या साहित्य अथवा विज्ञान की हो, सब कल्पना-शक्ति पर ही निर्भर है। विद्यार्थी कभी-कभी प्रश्न करते है कि उनमें कल्पना-शक्ति है या नही ? हम यह विश्वास के साथ कह सकते है कि उनमें कल्पना-शक्ति है और प्रचुर मात्रा में है, चाहे वह प्रत्यक्ष दिखाई न पड़े। यह सभव है कि उनकी शक्ति का दुरुपयोग किया गया हो, क्योकि कल्पना-शक्ति रचनात्मक और ध्वसात्मक दोनो ही हो सकती है, परन्तु उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई सदेह नही हो सकता।

प्रकृति से हमें अनेको अनमोल उपहार मिले है, किन्तु उनके सर्वांगीण आनन्द और लाभ-प्राप्ति के लिए हमें उनका उपयोग करना सीखना चाहिए। हमारा मस्तिष्क तथा हमारी इन्द्रियाँ प्रकृति की अनुपम भेंट हैं। इनके सदुपयोग से ही हमारा पूर्ण विकास सम्भव है। शरीर के साथ-साथ हमारे मस्तिष्क का विकास होता रहता है, किन्तु उसकी गुप्त शक्तियाँ इतनी पर्याप्त मात्रा में है कि कोई भी महत्तम व्यक्ति उसे पूर्ण विकसित करने में समर्थ न हो सका।

मनुष्य की कल्पना में जैसी विभिन्नता होती है, वैसी ही भावो में भी देखी जाती है, जो उचित प्रयोग से विकसित होती रहती है। जैसे नित्यप्रति के व्यायाम के अभ्यास से हमारी शक्ति धीरे-धीरे वढकर एक दिन इस सीमा तक पहुँच जाती है जिसे देखकर हम चकित हो जाते हैं। यही वात हमारे भावो के सम्वन्ध में भी लागू होती है। हमें अधिक या अल्प भावो से कार्यारम्भ कर देना चाहिए और निरन्तर खोज से उन्हें विकासोन्मुख करते रहना चाहिए। आप एक सामान्य भाव को लेकर उसमें अपनी पूरी शक्ति लगा दें। छोटे से छोटे भावपर अच्छी तरह विचार करें और उसमें प्राप्त होनेवाले आनन्द का अनुभव करे। यही ऊँचे भावो तक पहुँचने का रहस्य है।

भाव और कल्पना को विकसित करने के लिए मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि वह स्वत॰ अनुभव और विश्वास करे कि उसमें कल्पना-शक्ति या भाव सन्निहित हैं, चाहे वह कितनी भी मात्रा में क्यो न हो। मनुष्य का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वह ऐसी धारणा उत्पन्न करे कि कल्पना-शक्ति वढ सकती है। उसका तीसरा काम यह है कि वह अपनी कल्पना-शक्ति को रचनात्मक कार्य में लगाये और उसका अन्तिम कर्त्तव्य यह है कि वह एक निश्चित योजना लेकर आगे वढ़े।

जव हम किसी वस्तु का निर्माण करना चाहते है तो हमें क्या वनाना है, इसका ठीक

काल्पनिक अलंकारिक चित्र



चाँदनी

उसी प्रकार से ज्ञान होना चाहिए जैसे कि निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री तथा उसके प्रयोग के ढंग का ज्ञान आवश्यक है। उसी प्रकार से किसी पदार्थ में सर्वप्रथम सामग्रियों और शस्त्रों के प्रयोग में ज्ञानोपरान्त प्रकाश और छाया के सिद्धान्तों के परिज्ञान के साथ वस्तुओं के वाह्य तत्त्व की अनुभूति और मन में भाव और तदनुसार भावाभिव्यक्ति करने की शक्ति होना परमावश्यक है।

छाया और प्रकाश तथा वस्तु के वाह्य तत्त्व और प्रयोग के ज्ञान हमें कल्पना को प्रकट करने का माध्यम मिल जाता है और हम अपने मस्तिष्क को सक्रिय बना लेते हैं। यह एक निश्चित बात है कि गम्भीर से गम्भीर भाव क्रियाशील मस्तिष्क में ही उत्पन्न हो सकते हैं।

बहुत से लोग प्राय यह प्रश्न पूछा करते हैं कि ये विचित्र चित्र क्यों बनाये जाते हैं? जो कुछ हम देखते हैं उसे ही क्यों न चित्रित किया जाय? हम एक कल्पित पेड़ या पशु की क्यों रचना करें, जब कि प्रकृति के असंख्य वृक्षों या पशुओं की अनुकृति बनायी जा सकती है? इन प्रश्नों का उत्तर सीधा है। इस प्रकार के कार्य कल्पना को विकसित तथा उत्तेजित करने के लिए किये जाते हैं। इस प्रकार की रचना में हम संलग्न होकर आविष्कार करने, निर्माण करने तथा अपनी प्रतिभा और कुशलता का प्रयोग करने तथा अपने मस्तिष्क को कार्योन्मुख करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार नूतन तथा विचित्र वस्तुएँ उत्पन्न हो सकती है जिनमें मौलिकता सदा सन्निहित रहेगी, जो कलाकार की निजी रचना या सृष्टि होगी। एकमात्र यही मार्ग हमारी रचनात्मक प्रणाली के लिए सम्भव है, भले ही प्रारम्भिक अवस्था में यह कार्यप्रणाली विशेष उपयोगी न जान पड़े, चित्रकार के रूप और आकार विशेष आकर्षक न प्रतीत हो, किन्तु अभ्यास द्वारा वह रूपों तथा आकारों को हृदय में उतार कर हाथों में कस लेगा और उनसे अपूर्व आनन्द-स्रोत की सुरसरिता बहा देगा।

कला और हस्तकौशल

कला और हस्तकौशल ये दो शब्द ऐसे है जिनका लोग प्राय एक ही अर्थ समझते है। बढई के काम को भी जिसे हस्तकौशल कहना चाहिए, लोग कला कहते है और चित्रकला को हस्तकौशल से सम्बोधित करते है। कला की वृहत् परिभाषा में किसी भी मानवीय सौष्ठव को कला कह सकते है, परन्तु सुविधा के लिए वह भी दो भागो में विभक्त की गयी है। एक को कला और दूसरे को उपयोगी कला या हस्तकौशल के नाम से सबोधित करते है। परन्तु आज कला और हस्तकौशल दो भिन्न विषय समझे जाते है, क्योंकि दोनो की उपयोगिता में भिन्नता है। अत इन दोनो का भेद समझने के लिए हमें सर्वप्रथम हस्त-कौशल का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

हस्तकौशल में कार्यारम्भ के पूर्व शिल्पी को ज्ञात रहना चाहिए कि उसे क्या निर्माण करना है। एक बढई को ज्ञात है कि उसे आज एक कुर्सी (पीठासन) बनाना है। उस वस्तु के आकार अथवा स्वरूप का चित्र उसके हृदय में पूर्व अभ्यास द्वारा अकित रहता है। उस वस्तु के परिमाण का भी परिज्ञान उसे रहता है और वह अपना कार्य आरम्भ करता है। ऐसा कदापि सभव नही है कि कुर्सी बनाते-बनाते बढई उसे मेज में परिणत कर दे। वह जानता है कि उसे क्या बनाना है और वह वही बनाता है।

हस्तकौशल में सर्वप्रथम लक्ष्य आता है। काम करते समय लक्ष्य का ध्यान रखते हुए वहाँ तक पहुँचने के लिए किन कार्य-प्रणालियो का योग लेना पडेगा शिल्पी सुविचार-पूर्वक प्रयोग करता जाता है। अर्थात् काम करने की विधि पहले आती है और अन्त में उसी से लक्ष्य की प्राप्ति भी हो जाती है हस्तकौशल सम्बन्धी काम की प्रस्तुत तथा अप्र-स्तुत सामग्रियो में भी विभेद होता है। अप्रस्तुत सामग्री, जैसे पेड की टेढी-मेढी लकडी, स्वर्णकार का सोना इत्यादि, शिल्पी हस्तकौशल का काम ऐसी ही किसी अप्रस्तुत सामग्री को लेकर आरम्भ करते है और अन्त में उसका स्वरूप कुछ और हो जाता है। अप्रस्तुत सामग्री जनित वस्तु उपयोगी वस्तु बन बैठती है। शिल्पी को प्रस्तुत वस्तु बनाने के पूर्व, अप्रस्तुत वस्तु के संरक्षण की आवश्यकता होती है।

हस्तकौशलोपयोगी सामग्रियों का एक अनिश्चित रूप और आकार होता है जिसे शिल्पी सँवार कर एक निश्चित स्वरूप में जन्म देता है। यहाँ रूप और वस्तु का [illegible] दर्शनीय है। अप्रस्तुत वस्तु जो पिंडाकार थी, उसे ढालकर सोनार ने [illegible] का [illegible] का रूप दे दिया।

हस्तकौशलों की एक विशेषता यह भी होती है कि ये सभी अन्योन्याश्रित [illegible]। कपास से एक व्यक्ति सूत कातता है, दूसरा वस्त्र बुनने का कार्य करता है। [illegible] वस्त्र को कोट के रूप में परिवर्तित कर देता है। उनके यहाँ बुनकर का वस्त्र, [illegible], कोट में परिणत करने के लिए अप्रस्तुत सामग्री हो जाती है। इस प्रकार सूत [illegible], वस्त्र बुनना और वस्त्र सीने का काम ये सभी हस्तकौशल हैं और एक दूसरे से [illegible] तथा संबधित हैं। हस्तकौशल संबंधी अन्यान्य गवेषणात्मक विवेचन समाप्त है परन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि उपरिलिखित विचार यदि किसी [illegible] के उपयुक्त नहीं है तो वह हस्तकौशल न होकर कुछ और है और संभव है यही [illegible]।

हस्तकौशल के और भी प्रकार हो सकते हैं, जैसे बढ़ई या मोची का काम। इन सभी हस्तकौशलों का लक्ष्य काम में आनेवाली विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करना है। दूसरे कोटि का हस्तकौशल कृषि, उद्यानसेवा इत्यादि है, जिनका लक्ष्य उत्पादन करना अथवा पालन-पोषण करना है जो हमें जीवनयापनमें सहयोग प्रदान करते हैं। तृतीय कोटि का हस्तकौशल वैद्यक, शिक्षण या युद्धविद्यादि है—जिनका लक्ष्य मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक अवस्थाओं में एक प्रकार का परिवर्तन करना है। परन्तु इन सब में एक समानता है। सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। मनुष्य की मानसिक चेतनाएँ वस्तु की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्कण्ठित रहती हैं। मानसिक [illegible] और इच्छाओं की आवश्यकताओं के संकेत पर ही शिल्पी रचनाएँ करते हैं। अर्थात् मनुष्य की विभिन्न मानसिक अभिलाषाओं की पूर्ति करना ही शिल्पी का कार्य है। यदि कवि भी मनुष्य की मानसिक वृत्तियों की तृप्ति के निमित्त रचना करता है तो उसकी कविता भी कलाकृति न होकर हस्तकौशल होगी। यदि सभी चित्रकार, मूर्तिकार, नृत्यकार तथा संगीतज्ञ मनुष्य की अभिलाषाओं की पूर्ति मात्र के लिए ही रचना करते हैं तो ये सब निस्सन्देह शिल्पी हैं।

प्रत्येक हस्तकौशल की एक स्वीय कार्यप्रणाली होती है, जिसे बिना शिक्षा [illegible] किये अथवा अभ्यास किये हुए अपनाना कठिन है। हस्तकौशल संबंधी [illegible] बिना अभ्यास के नहीं आ सकता। बढ़ई का काम कोई नहीं कर सकता, यदि [illegible],

आरी, वसूला आदि चलाना नही जानता । कोई व्यक्ति चित्रकला का तव तक काम नही कर सकता जव तक वह तूलिका-सचालन, या रगादि की विधियो से अभ्यस्त न हो। कविता करने से पूर्व शव्द-सयोजन करना आना ही चाहिए । प्रत्येक हस्तकौशल और कलाओ में कार्यप्रणाली का एक वहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है और वह उसका एक आवश्यक अग है ।

प्राय कार्यप्रणाली का तात्पर्य हम एक नपी-तुली कार्यकुशलता ही समझते है । वसूला चलाने का एक अपना अलग ढग है, कागज पर तूलिका घुमाने की एक विधि है, शव्दों को छन्दोवद्ध करने का एक नियम होता है । यह कुछ अश तक सत्य है । रन्दे को यदि लकडी समतल करने के लिए चलाना है तो, उसे उलटा नही चलाया जा सकता और उसे एक विशेप ढंग से पकडकर चलाना होगा । कागज पर तूलिका का प्रयोग एक विशेप ढग से तूलिका के वालो को रंग में डुवा कर कागज पर करना होगा । इस प्रकार प्रत्येक हस्तकौशल और कलाओ में उनके उपकरणो के प्रयोग का निश्चित ढग है, जिसे हम प्राथमिक कार्य-प्रणाली कह सकते है । इस प्राथमिक कार्य-प्रणाली की शिक्षा ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को जो कला या हस्तकौशल का काम करना चाहते है, विद्यालय में गुरु की छत्रच्छाया में ही प्राप्त हो सकती है ।

प्राथमिक कार्यकुशलता अथवा कार्य-प्रणाली से अवगत हो चुकने ही पर कोई, कुशल शिल्पी अथवा कलाकार नही हो सकता, क्योकि इससे तो कार्यारम्भ मात्र का ही ज्ञान हो पाता है । भवन की आवारशिला चुनने का कार्य यदि किसी व्यक्ति ने किया तो इसका तात्पर्य यह नही कि पूरे भवन का निर्माण वही व्यक्ति कर लेगा जिसने आधारशिला का कार्यारम्भ किया है । भवन की आधारशिला के कार्य का तो ज्ञान होना ही चाहिए, परन्तु उसके ऊपर भी वहुत कुछ वनाना है । आधार-शिला की जो कार्यशैली थी, उससे अव भवन-निर्माण का कार्य नही हो सकता । पूरे भवन का क्या रूप होगा, इसकी कल्पना करनी होगी और तदनुरूप अभिनव कार्यशैली का प्रादुर्भाव अपने अन्वेपण से करना होगा, तभी हम अपने प्रयत्न में सफल होगे । प्राथमिक कार्यकुशलता (प्रणाली) से जव कोई शिल्पी अथवा कलाकार आगे उठकर कुछ नवीन अथवा मौलिक कल्पनाओ का समावेश अपनी कला में करने लग जाता है, तो उसे शैली के नामसे सवोधित करते है । कार्यप्रणाली जानना जितना आवश्यक है उससे भी अधिक आवश्यक है शैली-निर्माण करना । जिस हस्त-कौशल या कला में शैली का जितना अधिक या अल्प योग होगा वह हस्त-कौशल अथवा कला उतनी ही उच्च या निम्न कोटि की होगी ।

किसी भी हस्त-कौशल या कला में कार्यप्रणाली और उसकी शैली दोनो ही नितान्त

आवश्यक हैं । कार्यप्रणाली शिक्षा के माध्यम से गृहीत हो सकती है, और शैली प्रयत्न द्वारा सम्पूर्ण नहीं तो अंशतः अपनायी ही जा सकती है । परन्तु अनुकरणात्मक शैली से कला विकसित नहीं हो सकती । कला का विकास और उसकी सफलता व्यक्तिगत व अभिनव शैली के प्रादुर्भाव पर निर्भर करता है । कार्यप्रणाली और शैली की प्रधानता होते हुए भी यह समझना कि कार्यप्रणाली और शैली ही कला है एक बहुत बड़ी भूल होगी । ये तो कला के माध्यम हैं जिनसे कला का निर्माण होता है ।

हस्त-कौशल या दस्तकारी में तथा कला में सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर है भाव, कल्पना तथा नवीनता का । हस्त-कौशलमें टेकनीक स्थिर रूप में प्रयुक्त होती है, परन्तु कला नयी टेकनीक उत्पन्न करती है, नये भाव तथा कल्पना की अभिव्यक्ति करती है ।

चित्रकला और रूपकारी

चित्रकला में रूपकारी (डिजाइन) का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। रूपकारी का अर्थ है कल्पना से रचना करना। यह शब्द धीरे-धीरे भारतवर्ष की अन्य भाषाओ में भी उसी अर्थ के साथ प्रयुक्त होने लगा है। चित्रकला में 'डिजाइन' से उस चित्र को सम्बोधित करते है, जिसमें कल्पना प्रधान है। हिन्दी में इस शब्द के स्थान पर परिकल्पना या बेल-बूटा बनाना ही प्रयोग किया जाता है, परन्तु इसका समानार्थी ठीक रूपकारी या बूटेकारी शब्द ही है। इसलिए हम आगे चलकर डिजाइन के अर्थ में रूपकारी या बूटेकारी शब्दो का ही प्रयोग करेंगे।

रूपकारी का अर्थ न तो परिकल्पना ही है और न बेलबूटा बनाना। चित्रकला में भी इसी प्रकार रूपकारी का अर्थ केवल बेलबटा बनाना ही नही है, अपितु यह एक सारगर्भित अर्थ का द्योतक है। विचार करने पर ज्ञात होगा कि रूपकारी का अर्थ चित्रकला स्वयं है। जब भी हम रूपकारी शब्द का प्रयोग करते हैं तो मन में एक ऐसे चित्र की कल्पना होती है जिसमें चित्रकला के सभी नियमो, सिद्धान्तो और गुणो का समावेश किया गया है। किसी भी कला में कुछ ऐसे नियम या सिद्धान्त अवश्य होते हैं जिनका पालन करना नितान्त आवश्यक होता है। चित्रकला, सगीतकला, मूर्तिकला, काव्यकला या नृत्यकला में सबसे आवश्यक वस्तुएँ हैं—लय, छन्द गति, सन्तुलन, पुनरावृत्ति, अनुपात, समानुपात, एकता, सुमेल, कल्पना, भाव, उद्वेग, व्यञ्जना और शैली के गुण। इन्ही के समावेश से सौन्दर्य उत्पन्न होता है। रूपकारी में ये सभी वस्तुएँ आ जाती है। हम चित्रकला को रूपकारी भी कह सकते हैं।

रूपकारी का अर्थ आजकल चित्रकला में केवल बेलबूटा बनाना मात्र ही ग्रहण किया जाता है। यह एक सकुचित विचार है और रूपकारी का महत्त्व कम करना है। रूपकारी में कल्पना प्रधान है। रूपकारी सिखाने का मुख्य प्रयोजन यही है कि बच्चो तथा विद्या-र्थियो की कल्पना-शक्ति का विकास हो सके और उनमें योजना करने की शक्ति आये। चित्रकला और प्रत्येक ललित-कला में कल्पना की प्रधानता होती है। कल्पना में ही

सभी गुण सन्निहित है। यदि कल्पना का पूरा विकास हो जाय तो अन्य सभी गुण चित्र-कला के विद्यार्थी में अपने आप आ जायेंगे। इसी उद्देश्य से रूपकला विद्यार्थियोंके पाठ्य-क्रम में रखी गयी है और उसे सबसे अधिक महत्त्व देना चाहिए। परन्तु विद्यालयों में वस्तु-चित्रण (माडेल ड्राइंग) का ही अधिक अभ्यास कराया जा रहा है और रूपकला तो केवल बेलबूटा बनाना सिखाने के लिए पाठ्य-क्रम में रखी गयी है। इसीलिए वह अनि-वार्य भी नही है और यदि अनिवार्य है भी तो केवल बालिकाओ के लिए, क्योकि सभवत उनको कल्पना करने की अधिक आवश्यकता पडती है और लडके तो जन्म से ही कल्पना-शक्ति लेकर आते है। यह बात भी नही है। सभवत रूपकला का अर्थ जैसा हम पीछे कह आये है, केवल बेलबूटे से ही लिया गया है और क्योकि बालिकाओ को अपने ब्लाउज, फ्राक, साडी, इत्यादि पर बेलबूटा काढने की अधिक आवश्यकता पडती है इसीलिए यह उपयोगी समझा गया है और उनके पाठ्य-क्रम में यह अनिवार्य है। मेरा अभिप्राय यहाँ किसी पर आक्षेप करने का नही है, वरन् केवल यह है कि चित्रकला में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को रूपकारी का महत्त्व भली-भाँति समझ लेना चाहिए।

अंग्रेजी साहित्य में कभी-कभी रूपकारी डिजाइन का अर्थ इच्छा, दृष्टि और कल्पना तीनो होता है, जैसे किसी ने एक मदिर बनाने की इच्छा की कल्पना की, अपनी दृष्टि दौडायी या विचार करके एक योजना बनायी। इसी प्रकार रूपकारी में इच्छा, कल्पना, विचार, बुद्धि, विवेक, मनोभाव, उद्वेग, एकाग्रता, रुचि, रचना, अनुभव, भाव, अपने को व्यक्त करने की शक्ति, कार्यकुशलता, स्फूर्ति, कार्यारम्भ की शक्ति, योजना बनाने की शक्ति, इन सभी गुणो की वृद्धि होती है। इसलिए इसका अभ्यास प्रत्येक कला के विद्या-र्थियो के लिए नितान्त आवश्यक है।

रूपकारी की प्रेरणा हमें प्रकृति के विविध रूपो तथा आकारो से मिलती है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु की रचना में हमें रूपकारी स्पष्ट दिखाई पडती है। मनुष्य को ही लीजिए। वह स्वय ही एक रूपकला है। उसकी रचना में रूपकला के सभी गुण विद्यमान है। उसके मुख से ही आरम्भ कीजिए। एक कान दाहिने, एक कान बायें एक ही आकार के और एक ही स्थान पर। नासिका के ऊपर दायें-बायें दो लोल-विलोल लोचन। उसके कुछ ही ऊपर एक ही प्रकार की धनुपाकार दो भौहें। नासिका के सन्निकट निम्न भाग में युगल अधरोष्ठ कमलपत्र जैसे विकसित हो रहे है। दोनो कपोलो की समान आकृतियाँ और सिर कम्बुग्रीव पर सुन्दरता के साथ टिके हुए है। ग्रीवा के निम्न भाग में दोनो ओर के समान चौडे कधे और उनसे जुडे हुए एक ही समान दो विशाल बाहु, एक ही समानुपात की दोनो हाथो की पाँचो उँगलियाँ और उसी अनुपात में दोनो जांघें और

दोनो चरण । शरीर का अग-प्रत्यग सतुलित, सुव्यवस्थित, सुडौल,सुदृढ और छदमय है । इसी प्रकार पशु-पक्षी, पेड-पौधे सभी की आकृतियाँ कलापूर्ण है । मोर के नीले, पीले, हरे, सुनहले पखो और लचीली-ग्रीवा तथा मुकुट को देखिए और उसकी रूपकारी को देखिए। रग-विरगी तितलियो, पक्षियो में रूपकला का दर्शन कीजिए। प्रत्येक में आपको एक अपनी भिन्न रूपकला का आभास होगा । किसी पौधे की शाखा पर दृष्टिपात कीजिए । उसमे भी रूपकला का क्रमिक इतिहास भरा है । एक पत्ती टहनी के दायें ओर से निकली है तो दूसरी वैसे ही वायें से । किसी भी फूल को लीजिए। उसकी पंखुड़ियो की बनावट, रूप, रग सब में रूपकला के सभी गुण विद्यमान हैं । प्रकृति की सभी वस्तुओ में आप ये गुण पाइयेगा । प्रकृति कलामयी है और इसलिए प्रकृति कलाकार के लिए एक सचित सौन्दर्यकोष है । यही नही, प्रकृति कलाकार की गुरु भी है, जो उसे आजन्म कला का पाठ पढाती रहती है । प्रकृति अपनी एक-एक वस्तु के अंग-प्रत्यगो की रचना सोच-समझ कर भावमय और अभूतपूर्ण ढग से करती है । प्रकृति का रचना-सौष्ठव देखकर चकित होना पडता है और अन्त में कहना पड़ता है कि प्रकृति सब शास्त्रो की अधिष्ठात्री है ।

वैसे तो प्रकृति के सभी रूप सूक्ष्म हैं, परन्तु मनुष्य ने उनका नामकरण कर लिया है और उसी से वे उसे पहचानते है जिसे हम अब सूक्ष्म कहना उचित नही समझते । वर्षा में उमडते वादलो को देखिए । नित नये-नये रूप उनमें वनते और विगड़ते हैं, जिसका कोई नामकरण नही किया जा सकता । हमने उन रूपो को पहले कभी नही देखा, परन्तु वे दृश्य कितने मनोहर होते हैं और हमारे भीतर नाना प्रकार के भावो और मनोभावो का सचार करते है, जिसका कारण यही है कि उनमें भी रूपकला के सभी गुण विद्यमान हैं । पानी की लहरों, चट्टानो के कटे-फटे रूपो, तटिनी के शुष्क कूलो, कंगूरो, पवन से अस्त-व्यस्त की गयी वालुका के चिह्नो, वृक्षो की छालो और उनकी जटिल-जड़ो की झुरमुट में अनेको प्रकार की सूक्ष्म रूपकलाएँ दिखाई पड़ती हैं, जिनसे चित्र-विद्यानुरागियो को प्रेरणा मिल सकती है । प्रकृति के नग्न-सौन्दर्य का कला के प्रत्येक विद्यार्थी को मनन और अध्ययन करना चाहिए और अपनी कलाकृतियो में उसका उपयोग करना चाहिए । यह शिक्षा अन्यत्र दुर्लभ है, कलामयी प्रकृति स्वय एक महान गुरु है । प्रकृति की ये सूक्ष्म रूपकृतियाँ हमें प्रेरित करती हैं कि हम भी अपनी कल्पना से कलापूर्ण सूक्ष्म रूपकृतियाँ तथा भावमय चित्र निर्माण करें, क्योंकि कला के दर्शन वही पर हो जाते हैं ।

यहाँ यह हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य हो जाता है कि हम प्रकृति का निरीक्षण करें और वुद्धि से उसके नियमो की खोज करें । यदि हम प्रकृति की रचना करने के नियमो को खोजने का प्रयत्न करें तो ज्ञात होगा कि उस में एक सत्य छिपा हुआ है, जिसे जान लेने के

पश्चात् हम भी इसी प्रकार की रचना कर सकते है। प्रकृति के नियमो में पूरा गणितशास्त्र छिपा हुआ है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु की बनावट में एक भौमितीय सत्य या आधार है। यदि चित्रकार गणितशास्त्र से भी परिचित हो तो वह स्वय इसका परीक्षण कर सकता है। सभवत यही सत्य समझ कर पाश्चात्य प्रसिद्ध कलाकार माइकेल ऐंजेलो ने कहा था, "वह कलाकार नही जो गणित शास्त्र नही जानता।" और लियोनार्डो डा० विसी भी इसी बात की पुष्टि करता है। इन कलाकारो की कृतियों में जो इतनी सुन्दरता आ सकी है, इसका कारण यही है कि वे गणितशास्त्र के भी ज्ञाता थे। सामान्य कला साधको से यह आशा नही की जा सकती कि वे इस पक्ष का भी पूर्णरूपेण चित्रकला मे ज्ञान प्राप्त करें, परन्तु उनको इतना तो अवश्य समझ लेना चाहिए कि रूपकला में सरल गणित के चिह्नो का प्रयोग क्यो और कैसे होता है। सर्वप्रथम रूपकला में आकार को रेखाओ तथा भौमितिक रूपो से कैसे विभक्त करना चाहिए और उन आकारो में किस प्रकार सतुलन तथा सुमेल के साथ अन्य रूपो को बैठाना चाहिए, यह जानना नितान्त आवश्यक है।

डिज़ाइन या रूपकारी सच कहा जाय तो कला का मुख्य तत्त्व है या उसकी आधार-शिला है। आधुनिक कला ने इस तथ्य को पूर्णरूपेण ग्रहण किया है और आजकी कला का रूप स्वय डिज़ाइन हो गया है।

द्वितीय भाग

आधुनिक कला की मुख्य प्रवृत्तियाँ

चित्रकला की तीन मुख्य प्रवृत्तियाँ

बीसवी शताब्दी में राजा रवि वर्मा के पश्चात् चित्रकला का जो नया रूप सामने आया, वह डा० अवनीन्द्रनाथ के बगाल स्कूल का स्वरूप था । १६४२ के आन्दोलन के पहले तक उसका काफी प्रचार रहा, यद्यपि अमृत शेर गिल तथा यामिनी राय की कला ने उनसे काफी पहले कला के क्षेत्र में एक नया आन्दोलन खडा कर दिया था जिसका विकसित रूप अब देखने को मिल रहा है । पिछले १५ वर्षों में भारतीय चित्रकला ने एक अजीब करवट ली । बगाल स्कूल, उसके कला-स्रोत, श्री नन्दलाल बोस, खितीन मजुमदार, असित हाल्दार से होते हुए गोपाल घोष तथा पुलिन बिहारी दत्त तक पहुँचते-पहुँचते हिचकियाँ लेने लग गया । शायद और आगे अब नही घसीटा जा सकता । जो भी हो भारतवर्ष के चारो कोनो में बगाल स्कूल ने एक बार कला का प्रचार कर दिया और इसका सारा श्रेय डा० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके सहयोगियो को निश्चित है ।

अब परिस्थिति बिलकुल भिन्न है । प्रचार का कार्य तो भारत सरकार कर ही रही है, और वह होगा ही, परन्तु अब भारतीय चित्रकला को अपना एक सुडौल रूप धारण करना पड़ेगा । वह रूप कैसा हो, यही भारतीय आधुनिक चित्रकला की समस्या है । इसी समस्या के विभिन्न हल आधुनिक चित्रकला के विभिन्न रूप हैं । किसी देश या समय की कला उस देश या उस समय का प्रतिबिम्ब होती है, या जैसा देश अथवा समय वैसी ही उसकी कला होती है । इस समय भारत की कला ही नही, सभी देशो की कला अपना एक सुडौल रूप निर्माण करने की योजना में व्यस्त है । क्या रूप होगा, कोई नही कह सकता । उसी भाँति आधुनिक भारतीय चित्रकला का सुडौल रूप कैसा होगा, अभी कोई नही कह सकता । प्रत्येक आधुनिक चित्रकार को इसी नये रूप के निर्माण में लगना है और भारतीय आधुनिक नव-चित्रकार इस कार्य में किसी से पीछे नही दिखाई पड रहे हैं, यद्यपि अडचनें अनेक हैं ।

आधुनिक युग में चित्र-कला के अनेक रूप हो गये है । बीसवी शताब्दी के पहले भी ऐसे अनेक रूप चित्रकला में खोजने पर प्राप्त होते हैं, परन्तु एक साथ एक ही समय में कला

के इतने रूप वहुत कम देखने को मिलते हैं। भारत की सम्पूर्ण मुगल कालीन कला का रूप एक ही ढाँचे में ढला प्रतीत होता है। कही-कही थोड़ा अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है, परन्तु उसको हम विभिन्न रूप नहीं कह सकते। मुगलकालीन चित्र देखते ही यह ज्ञात हो जाता है कि वह किस समय का होगा। इसी प्रकार बौद्ध, जैन, ब्राह्मण सभी कलाएँ एक साँचे में ढली प्रतीत होती है। यह बात आधुनिक कला के बारे में सत्य नहीं ठहरायी जा सकती। बीसवी शताब्दी के अट्ठावन वर्षों में कला के अनेक रूप बने और बनते जा रहे है। भारत के अन्य प्राचीन कालो में शायद भारतीयो का सम्बन्ध संसार की और सभ्यताओ से इतना नही था जितना इस सदी में धीरे-धीरे होता जा रहा है, इसलिए भारतीय संस्कृति और कला दोनो पर उनका प्रभाव पूर्ण रूप से पड़ रहा है। प्राचीन काल में सुविधाओ की कमी के कारण यह सम्पर्क इतना नही था और उस समय की कलापर ससार के अन्य देशों का प्रभाव नही मिल पाता। यदि आज ऐसी सुविधा है और एक देश की सभ्यता और कला पर अन्य देश का प्रभाव पडे तो यह अनुचित नही है, बल्कि आवश्यक है। सभ्यता का विकास आदान-प्रदान पर आधारित है। चित्रकला के क्षेत्र में या और किसी भी कला अथवा विज्ञान में प्राय. प्रत्येक सभ्य देश में एक ही प्रकार की धाराएँ चल रही है। यही कारण है कि चित्रकला के क्षेत्र में नित्य नयी-नयी धाराएँ आ रही है।

इन सभी रूपो का तथा प्राचीन चित्रकला के रूपो का भली-भाँति विश्लेषण करने पर हमें तीन धाराएँ मुख्य जान पड़ती हैं, आलंकारिक रूप, विषय-प्रधान रूप तथा सूक्ष्म रूप। या हम उन्हें तीन प्रकार के चित्र कह सकते हैं—आलंकारिक चित्र, विषय-प्रधान चित्र और सूक्ष्म चित्र। इन तीनो प्रकार के चित्रो में किसका स्थान सबसे ऊँचा है, यह निर्धारित करना कठिन है, क्योकि यह तीनो प्रकार के चित्र हर देश और काल में पाये जाते हैं। कभी किसी का प्रचार अधिक रहा, कभी किसी का। आधुनिक यूरोप में सूक्ष्म चित्र अधिक प्रचलित हैं। आधुनिक भारत में विषय-प्रधान चित्र का अभी तक प्रचार रहा है, परन्तु दृष्टिकोण सूक्ष्म होता जा रहा है। आलकारिक चित्र इस समय कम बन रहे है।

आलंकारिक प्रवृत्ति

जिस समय देश धन-धान्य से सम्पन्न और आनन्दमय होता है, उस समय वहाँ की कला तथा जीवन दोनो में अलकार का महत्त्व सबसे अधिक होता है। अलंकार का प्राण लय, छन्द-गति, सन्तुलन तथा ताल होता है। जिस समय नदी जल-राशि से परिपूर्ण होकर छन्द-गति से कल-कल करती हुई प्रवाहित होती है, दर्शक अवाक् रह जाता है और उसी लय के प्रवाह के साथ स्वयं भी अपने को बहता हुआ पाता है। उससे आनन्द मिलता है,

सन्तुष्टि प्राप्त होती है। भारतवर्ष के इतिहास में जब जब ऐसा समय आया है यहाँ की कला में अलकार की मात्रा बढी है। गुप्त काल की मूर्ति-कला तथा चित्रकला दोनो में अलकार प्रधान है। मुगल कालीन चित्रो का तो अलकार प्राण ही था। इस समय के चित्रो से अगर अलकार हटा दिया जाय तो शायद वे चित्र बहुत निम्न कोटि के ठहरेंगे।

आलकारिक चित्र इस समय अधिक नही मिलते। भारतीय विख्यात चित्रकारो में से बहुत कम ऐसे है जिन्होने इस प्रकार के चित्र बनाये हो। इसका कारण यही है कि इस प्रकार के चित्रो के निर्माण का अभी युग ही नही है। इसका यह तात्पर्य नही कि ऐसे चित्र लोगो को रुचिकर नही लगते प्रत्युत उनके पास इतना समय नही है कि ऐसे चित्र बना सकें, न उनकी मन स्थिति ही ऐसी है। इधर के चित्रकारों में यामिनी राय, राचगु तथा अल्मेल्कर के कुछ चित्र आलकारिक कहे जा सकते हैं। यामिनी राय के चित्र अपनी आलकारिकता से अधिक व्यक्त होते हैं। इनका "तुलसी पूजन" आलकारिक कोटि का एक सफल चित्र कहा जा सकता है। अल्मेल्कर के चित्रो में अलकार नृत्य तथा संगीत के लय का स्वरूप लिये हुए मिलता है। यही बात उनके रंगो के सम्मिश्रण में भी पायी जाती है। इसकी पुष्टि हम उनके ग्राम्यजीवन वाले चित्रो से कर सकते है। राचगु के अधिकाश चित्रो में सूक्ष्म अलकरण, रेखाओ के रूप में बहुत कुशलता से व्यक्त होते है। इनके चित्रो पर मुगल तथा राजपूत अलंकरण पद्धति की पर्याप्त छाप है। इनकी "सरस्वती" इन्हीपद्धतियो से निर्मित एक कलाकृति है। भारत की ग्राम्य कला आज भी अलकार-प्रधान है तथापि उसमें विषय-सौन्दर्य की भी एक निराली झांकी रहती है।

विषयात्मक प्रवृत्ति

वे सभी चित्र जिनमें आलेख्य रूपो तथा भावो को चित्र-बद्ध कर पहचानते है, विषय-प्रधान चित्र कहलाते है। ससार में आदिकाल से ही विषयप्रधान चित्रो का आलेखन पर्याप्त मात्रा में मिलता है। विषयप्रधान चित्र में अधिकतर चित्रकार प्रकृति के स्वरूपो को किंवा उससे सम्बन्धित भावो को ही स्थान देता है—किसी प्राकृतिक दृश्य का चित्र, जिनमें पृथ्वी, आकाश, जीव-जन्तु, पेड-पौधे, नदी-पहाड, झरनें आदि के मध्य खडे चित्रित व्यक्ति अथवा एक व्यक्ति ही चित्रित हो, जैसे एक यात्री का चित्र या अभिसारिका का चित्र। इस प्रकार के चित्र विषयप्रधान चित्र ही कहलायेंगे। इसी प्रकार प्रकृति के अन्य वस्तुओ के चित्र विभिन्न परिस्थितियो के भी बनाये जा सकते हैं, जिनमें कोई भाव या कोई दर्शन छिपा हो। भारतीय चित्रकला में सरस्वती की चार भुजाएँ या विष्णु के चार हाथ और उनके विभिन्न रगो का आलेखन प्राप्त होता है। सरस्वती के चार हाथो में—एक में

पुस्तक, दूसरे में वीणा, तीसरे में कमल का पुष्प और चौथे हाथ में माला अंकित है। य
ये चारो हाथ सरस्वती की चार शक्तियो के द्योतक है। श्वेत वर्ण उनके ज्ञान का द्योत
है। इसी प्रकार विष्णु के चारो हाथ और श्याम रंग उनकी शक्तियो और प्रवृत्ति के द्योत
हैं। इस तरह प्रकृति के ही रूपो द्वारा चित्र में चित्रकार कोई भाव भर सकता है। इ
प्रकार के चित्र भी विषयप्रधान चित्र कहलाते हैं। विषयप्रधान चित्र ससार के चित्रका
का सर्वाधिक प्रिय विषय रहा है। भारतीय विषयप्रधान चित्रो में प्राय कोई न कोई भा
अवश्य मिलता है, परन्तु पाश्चात्य देशो में अधिकतर वस्तुओ के प्राकृतिक रूप को
विभिन्न ढंगो से बनाया गया है। अजन्ता, राजपूत, मुगल, जैन, तथा पहाडी कलाएँ स
विषय-प्रधान चित्रो की श्रेणी में आती हैं। ऋतुओ के चित्र, रसो के चित्र, राग-रागिनि
के चित्र, इत्यादि भी विषयप्रधान चित्र के अन्तर्गत हैं।

विषयप्रधान चित्र बनाने से पहले चित्रकार यह भली-भाँति सोच लेता है कि व
किसका चित्र, किसका प्रतिरूप बनाने जा रहा है। वह जानता है कि उसे वृक्ष बनाना
मनुष्य का रूप बनाना है, या ईश्वर का रूप बनाना है। परमात्मा तो सूक्ष्म है। उसक
चित्र बनाना तो सूक्ष्म चित्र बनाना कहा जा सकता है परन्तु यह भी विषयप्रधान चि
है और इसमें भी परमात्मा पहले आ जाता है; फिर उसका चित्र। परमात्मा या देवं
देवताओ के रूपो को भी मनुष्य का-सा रूप दे दिया गया है जिससे उनके चित्र बन सकें
जहाँ भी चित्र बनाने से पहले चित्रकार के मन में कोई भाव या वस्तु आती है, उसी भा
या वस्तु का प्रतिरूप चित्र होता है और चित्र विषयप्रधान हो जाता है।

इस प्रकार विचार करने से तो यह कहा जा सकता है कि चित्र विषयप्रधान ही ह
सकता है और उसमें कोई दूसरा प्रकार नही हो सकता, क्योंकि जितने भी चित्र बनते
उनमें चित्रकार किसी न किसी वस्तु या भाव का रूप अवश्य बनाता है। इसीलि
आदिकाल से बीसवी शताब्दी तक अधिकतर चित्र विषय प्रधान ही बने और आज भी ब
रहे हैं। हम जो देखते है, जो सोचते है, उसीका चित्र बनाते हैं। इसके अतिरिक्त हम अ
क्या कर सकते हैं? परन्तु आधुनिक चित्रकार इस प्रकार के चित्र बनाते-बनाते ए
ऐसी स्थिति में पहुँचा है जहाँ उसे एक दूसरे ही प्रकार का भाव उत्पन्न हुआ है—जिसे न
निर्माण कहते हैं। इसी का परिणाम सूक्ष्म कला है।

सूक्ष्म प्रवृत्ति

निर्माण और पुर्ननिर्माण में अन्तर है। पुर्ननिर्माण उस स्थिति को कहते हैं जहाँ ह

स्वप्निल चित्र



प्रकाश के किनारे

निर्माण ईश्वर या प्रकृति ने किया है। परन्तु निर्माण का अर्थ पुनर्निर्माण नहीं है। निर्माण का तात्पर्य यह है कि चित्रकार प्रकृति की भाँति स्वयं अदृष्ट वस्तुओं का निर्माण करे। अर्थात् कल्पना के आधार पर नये स्वरूप बनाये। इस प्रकार के चित्र को हम सूक्ष्म चित्र कहते हैं। यह आधुनिक युग की एक देन है।

ऐसे चित्रों में जो रूप बने हुए होते हैं वे किसी दूसरी वस्तु के या भाव के प्रतिरूप नहीं होते, अर्थात् वे किसी वस्तु के रूप नहीं हैं, न वे पहचाने जा सकते हैं और न उनका नामकरण ही हो सकता है। इस प्रकार के चित्र को अप्रतिरूपक चित्र कह सकते हैं। इनका आधार केवल मनुष्य की सहज रचनात्मक प्रवृत्ति होती है। किसी वस्तु का पुर्ननिर्माण नहीं बल्कि सूक्ष्म, अज्ञात, अदृष्ट का निर्माण। वायु का कोई रूप नहीं दिखाई पड़ता, परन्तु यदि उसे भी चित्रित किया जाय तो एक प्रकार का सूक्ष्म चित्र होगा, यद्यपि शुद्ध सूक्ष्म चित्र फिर भी न होगा क्योंकि वायु एक ज्ञात वस्तु है, उसकी कल्पना हम पहले ही कर चुके हैं और उसी के आधार पर चित्र बनेगा।

सूक्ष्म चित्र बन जाने पर यदि हम उसका विश्लेषण करें तो उसमें कुछ गुण ऐसे दृष्टिगोचर हो सकते हैं जैसे उनके परस्पर की प्रतिकृति स्वरूप में, सम्बन्वित आकार, व्यवस्था, वास्तुरूप, लय, छन्द, सन्तुलन, गति इत्यादि। इस प्रकार के सूक्ष्म चित्र एक प्रकार के ज्यामितिक स्वरूप कहे जा सकते हैं। सूक्ष्म चित्रकला में केवल सूक्ष्म रूप, रंग तथा रेखाओं का सयोजन होता है। यह रूप, रेखा या रग किसी और रूप या भाव के द्योतक नहीं होते। यह कोई अभिव्यक्ति भी नहीं करते। जिस प्रकार वर्षा ऋतु में उमडते-घुमडते बादलों में नाना प्रकार के रूप बनते-बिगड़ते रहते हैं, उसी प्रकार चित्रकार अपने चित्र में रूप, रग तथा रेखाओं के सम्मिश्रण से विचित्र रूप बनाते हैं जिनका कोई तात्पर्य नहीं रहता। ऐसे चित्र बनाने में चित्रकार की रुचि क्यों लगती है, इसका उत्तर केवल यही है कि उसके लिए रूप, रेखा तथा रग खेलने के सामान हैं। उनसे वह खेलता है। जिस प्रकार वर्ष, डेढ़ वर्ष का बालक कभी पेन्सिल पा जाता है तो कागज पर गोदता है और क्रीड़ा का आनन्द लेता है, वह कुछ सोचकर, किसी वस्तु का चित्र नहीं बनाता बल्कि रंग से खेलता है, वह यह भी नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है, उसी भाँति आधुनिक सूक्ष्म चित्रकार रगों, रूपों तथा रेखाओं से खेलता है, उसका कोई तात्पर्य नहीं होता। बालक केवल हाथ में पेन्सिल लेकर इधर-उधर चलाता है, उसी प्रकार चित्रकार भी करता है। विश्वविख्यात आधुनिक चित्रकार पिकासो ने स्वयं एक बार कहा है—

"मैं आरम्भ से ही नहीं जानता कि मैं क्या चित्रित करने जा रहा हूँ, उसी तरह जैसे मैं

यह नही जानता कि चित्र में कौन-से रग प्रयोग करूँगा, काम करते समय मैं इसकी परवाह नही करता कि मैं क्या चित्रित कर रहा हूँ। जब-जब मैं चित्र आरम्भ करता हूँ मुझे ऐसा लगता है जैसे मै अपने को एक गहरे अधकार में फेंक रहा हूँ।"

आधुनिक कला के आलोचक कभी-कभी यही आरोप लगाते हैं कि ये चित्रकार केवल बालको की भाँति चित्र बनाते हैं, उनमें कोई कार्यकुशलता नही होती। यह आरोप आधुनिक चित्रकार बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार करते है और कहते हैं कि हाँ, यदि यह बालक की भाँति ही सोच सकते और चित्रकला कर सकते तो कितना अच्छा होता। शायद जीवन में बाल्यकाल में मनुष्य जितना सुखी रहता है उतना फिर कभी नही हो पाता। बालक का हृदय जितना पवित्र और निर्मल होता है वैसा यदि कलाकार का हृदय हो तो उससे अधिक श्रेयस्कर वस्तु और क्या हो सकती है ?

इसलिए हम कह सकते हैं कि आधुनिक चित्रकार सूक्ष्म चित्र बनाकर वैसा ही आनन्द लेते हैं जैसे बालक अपने जीवन में। इस प्रकार के चित्रो का महत्त्व जितना कलाकार के लिए है, उतना दर्शक के लिए शायद नही, परन्तु यदि दर्शक बालक के चित्रों में या उनके कार्यों में आनन्द पा सकते हैं तो निश्चय ही इस प्रकार के चित्रों में भी आनन्द पा सकते हैं यदि स्नेह से इन चित्रकारों के कार्यों का मूल्यांकन करें।

जिस प्रकार लीलात्मा परब्रह्म "एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय", मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ का विचार करता है और सृष्टिकर क्रीड़ा का आनन्द लेता है, उसी प्रकार कलाकार सूक्ष्म रूपो को बनाकर उस कार्य में आनन्द लेता है। जिस प्रकार सृष्टि के रूप किसी के प्रतिरूप नहीं है, उसी प्रकार सूक्ष्म चित्रो का भी ध्येय है। इस प्रकार की सूक्ष्म चित्रकला चित्रकार के आनन्द लेने का एक साधन मात्र है, और यही आनन्द दर्शक भी पा सकता है यदि उसको भी सूक्ष्म स्वरूपो के सयोजन का ज्ञान हो।

इस प्रकार के चित्र बनाकर सभी व्यक्तियो को आनन्द मिल सके या इस प्रकार के चित्रों को देखकर सभी दर्शको को आनन्द मिले, यह भी संभव नही। यह एक प्रकार की मानसिक स्थिति होती है जहाँ पहुँचकर ही मनुष्य ऐसी कृति में आनन्द ले सकता है। जिसको सचमुच आनन्द आता है वही इस प्रकार के चित्रो की रचना कर सकता है। जिस चित्रकार की मानसिक स्थिति इस प्रकार की नही है वह इस प्रकार की चित्र-रचना में कभी संलग्न नही हो सकता। यदि इस स्थिति को हम मनुष्य की वह स्थिति कहें जहाँ मनुष्य अपने मस्तिष्क को एकाग्र कर शून्य कर लेता है जैसे योगी, तो अतिशयोक्ति न

होगी। ऐसे योगी ससार में बहुत कम होते है। इसलिए यदि यह कहा जाय कि सूक्ष्म चित्रकला में प्रविष्ट होना प्रत्येक मनुष्य या कलाकार के लिए असम्भव है तो मिथ्या न होगा। बीसवी सदी में पिकासो की देखा-देखी यूरोप में इस कला के बहुत से अनुयायी हो गये है, शायद आवश्यकता से अधिक, परन्तु उन सभी की वही मानसिक स्थिति हो जैसी पिकासो की, ऐसा नही कहा जा सकता।

भारत में इस सूक्ष्म चित्रकला में विश्वास करने वाले कुछ इने-गिने चित्रकार ही है। इस दिशा में प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रवीन्द्रनाथ देव तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रामचन्द्र शुक्ल विशेषकर उल्लेखनीय है। इस प्रकार के कुछ चित्र स्वर्गीय डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा गगेन्द्र नाथ ठाकुर ने भी बनाये है।

सरलता की प्रवृत्ति

चित्र-कला का इतिहास भारतीय पौराणिक ग्रथो के अनुसार अति प्राचीन है। परन्तु यदि हम उतना पीछे न भी जायें तो भी चित्रकला प्रागैतिहासिक काल में तो निश्चित ही थी उसके कुछ उदाहरण आज भी प्राचीन कन्दराओ की भित्तियो पर अकित युगो से चम रहे हैं। ये उस समय के चित्र है जब संसार के मनुष्य जंगली जानवरो की भाँति केवल अपने भोजन का सामान जुटाते हुए नगे घूमा करते थे। ससार के इतिहास में चित्रकला का सबसे प्राचीन उदाहरण ऊपरी पैलियोलिथिक काल में मिलता है। उनका निश्चित समय तो अभी तक नही मालूम हुआ है, परन्तु अनुमान लगाया जाता है कि २०,००० और १०,००० बी० सी० के लगभग होगा। भारत में भी पाषाण-युग के चित्रकला के उदाहरण मिलते हैं। उस समय की सस्कृति को हम जगलीपन ही कहते हैं और समझते हैं। पर उन जगलियो को भी कला (चित्रकला) के प्रति रुचि थी। उसका उपयोग उनके लिए भी था। कला का उनके जीवन में क्या उपयोग था, यह विचारणीय प्रश्न है।

अपने को व्यक्त करने की प्रवृत्ति जानवरो में आज भी पायी जाती है। वे अपने हाव भावसे, व्यवहार से, बोलियों से, अपने को व्यक्त करते है। यदि हम उन आदिम-निवासियों को जगली कहें और उन्हें जानवरो की श्रेणी में गिनें तो भी यह तो मानना ही पडता है कि इन्ही जानवरो की भाँति उन्हें भी अपने को व्यक्त करने की आवश्यकता रही होगी। हम यह मानते हैं कि चित्रकला के द्वारा हम अपने भावो को व्यक्त करते है, तो यह भी बिलकुल निर्विवाद है कि उन वनवासियों को भी अपने को व्यक्त करने की प्रवृत्ति ने ही कला की ओर प्रेरित किया होगा। भाषा की उत्पत्ति भी इसी प्रकार हुई और प्रागैतिहासिक चित्रकला देखने में लिपि की भाँति ही प्रतीत होती है। जिस प्रकार लिपि प्रतीको के द्वारा भाव व्यक्त करती है, उसी प्रकार प्रागैतिहासिक चित्र भी प्रतीको द्वारा व्यक्त किये गये जान पडते हैं। पाषाण-युग में मनुष्य के सम्मुख सबसे बडी समस्या भोजन, और प्राकृतिक आक्रमणो तथा आपसी आक्रमणो से बचाव की थी। यही समस्याएँ हर समय उनको घेरे रहती थी। इन्ही समस्याओ को या इनके हल को ही वे अवकाश के समय सोचते और चित्रित करते थे।

कला का सामाजिक रूप

आदिकाल में जब मनुष्य वनों में रहता था और भाषा की उत्पत्ति न
समय भी उसके सम्मुख अपने को व्यक्त करनेकी समस्या रही होगी। सब
के जो उदाहरण हमें आज भी मिलते है वे है इजिप्शियन हीरोग्लिफ्स
कैरेक्टर्स। इन लिपियो में वस्तुओं को उनके लाक्षणिक रूप से ही व्यक्त कि

उदाहरण—













पिक्टोग्राफ

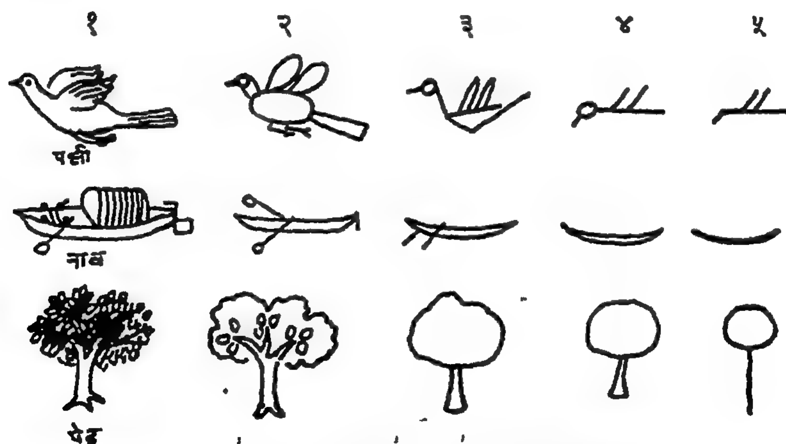
इस प्रकार की लिपि को पिक्टोग्राफ्स कहते हैं। चीन, जापान, की
मार्जित रूप में आज भी ऐसी है। इन पिक्टोग्राफ्स में समय के कारण ब
गये हैं और यह पता चल नही पाता कि ये किसके चित्र हैं। धीरे-धी
पिक्टोग्राफ्स बहुत ही सूक्ष्म होते गये और उनका रूप, वर्णो स्वरो और दा
हो गया। इस प्रकार अब चित्रो द्वारा भाव व्यक्त करने के स्थान पर श
किये जाते हैं और यही माध्यम साहित्य कहलाता है।

पिक्टोग्राफ्स की भाषा में यह परिवर्तन क्यो हुआ, यह महत्वपूर्ण

पहला कारण तो यह है कि शायद इसके द्वारा मनुष्य के सभी भाव सरलता से व्यक्त नही हो पाते थे—मुख्यतः सूक्ष्म भाव । इससे तो वही भाव सरलतासे व्यक्त किये जा सकते थे जिनको आँखो से भी देखा जा सकता था । सुगन्ध, वायु तथा कल्पना इत्यादि भाव, जिनका कोई निश्चित-सा दीख पडनेवाला रूप नही है, पिक्टोग्राफ में कैसे व्यक्त किये जा सकते है ? आदि-काल में जब मनुष्य और उसका वातावरण, उसकी कल्पनाएँ सूक्ष्म थी, केवल आस-पास की नित्य प्रति काम आनेवाली वस्तुएँ ही उसके सम्मुख थीं—वह पिक्टोग्राफ के द्वारा अपने इन भावो को व्यक्त कर लेता था, परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य के मस्तिष्क का विकास हुआ, उसकी भावनाएँ, समस्याएँ जटिल तथा सूक्ष्म होती गयी, उनको पिक्टोग्राफ में व्यक्त करना कठिन हो गया । आज का युग तो इतना जटिल होता जा रहा है कि भाषा से भी सुगम ढग निकालने की आवश्यकता पड रही है, और सकेत स्वरलिपि का भी अधिक प्रचार तथा प्रसार इसी लिए हो गया है । सकेत लिपि-प्रणाली का और भी सूक्ष्म रूप है ।

इसी प्रकार पहले की अपेक्षा आज की चित्रकला धीरे-धीरे सादगी तथा सूक्ष्मता की ओर वेग से बढ़ रही है ।

उदाहरण—



स्वाभाविक से सूक्ष्म की ओर

आदि निवासियो के मस्तिष्क का अधिक विकास नही हो पाया था, इसलिए वे किसी वस्तु को चित्रित करने में उसे प्राकृतिक रूप नही दे पाते थे और उसे सूक्ष्म लाक्षणिक ढंग से ही व्यक्त कर पाते थे जैसे पेड़ (५), परन्तु धीरे-धीरे चित्रकला ने अति प्राकृतिक

रूप (पेड सख्या १) धारण कर लिया। यूरोप में उन्नीसवी शताब्दी तक प्राकृतिक रूपों में भावो को व्यक्त करने का बहुत प्रचार हुआ। परन्तु उसके बाद प्रगति फिर पीछे की ओर लौटी और बीसवी शताब्दी में कला अधिकाशत. फिर सूक्ष्म हो गयी है।

कला के इतिहास में हम जितना पीछे जाते है, कला का रूप उतना ही सरल और सूक्ष्म दिखाई पडता है। सन् १९२० ई० में पजाब में हरप्पा की खोदाई तथा सिन्ध में मोहनजोदडो की खोदाई में टूटे-फूटे बर्तनो के ऊपर बने जो चित्र तथा चित्रकारियाँ मिली है, उन्हें देखने से उपर्युक्त कथन की सत्यता और भी पक्की हो जाती है। उन चित्रो में पाये जाने वाले रूप बहुत ही सरल तथा सूक्ष्म है। अधिकतर सरल रेखाओ तथा छाया-चित्र के द्वारा ही निर्मित रूप दिखाई पड़ते है। वस्तुओ के रूप कम से कम रेखाओ में पूर्णत: प्रारम्भिक रूप ही दिखाई पडते है, फिर भी बडी आसानी से उसको पहचाना जा सकता है। वस्तुओ का रूप इतना सरल और सूक्ष्म है कि उसमें केवल वे ही वस्तुएँ दिखायी गयी है जिन्हें कोई भी पहचान सकता है। रूप को जरा भी मिश्रित नही होने दिया गया है, यद्यपि फिर भी वे रूप अपना भाव पूरी तरह व्यक्त करते है। यही कला की शुद्ध भाषा का ध्येय है।

आधुनिक मशीन युग तक पहुँचते-पहुँचते चित्रकला का रूप बहुत मिश्रित हो गया है और उन रूपो को आसानी से पहचानना कठिन हो गया है। इसीलिए आधुनिक कला से सारा समाज आनन्द नही ले पाता, परन्तु कुछ चुने हुए व्यक्ति ही, जिनका मस्तिष्क मिश्रित वस्तुओ को भी पहचान सकता है, उसका आनन्द ले पाते है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि चित्रकला की परिभाषा फिर से प्रारम्भ हो, अर्थात् जिस भाँति अति प्राचीन काल में चित्रकला का जो कुछ रूप था, कुछ उसी प्रकार का रूप फिर प्रारम्भ हो। पाषाण-युग में मनुष्य का मस्तिष्क सरल और सादा था, वह सोच भी नही सकता था, इसलिए अपने भावो को व्यक्त करने के लिए वह केवल सरल रूप ही बना पाता था। किन्तु आज मनुष्य का मस्तिष्क इतना जटिल और व्यस्त हो गया है कि उसमें सादगी की आवश्यकता है। सादगी का यह तात्पर्य नही कि कला प्राकृतिक हो। इसे सादगी नही कह सकते। प्रकृति का रूप तो स्वय इतना जटिल है कि सहस्र विज्ञान के आविष्कार के पश्चात् भी उसका रहस्य मनुष्य की बुद्धि के परे है। मनुष्य समझता था कि विज्ञान के बल पर वह सृष्टि या प्रकृति पर विजय पा लेगा, किन्तु जितना ही वह इस चक्कर में पड़ता है उतनी ही उसकी समस्या जटिल होती जा रही है, और यही विज्ञान आज मनुष्य के मस्तिष्क की जटिलता का कारण है।

यही बात अब बहुत से विख्यात आधुनिक वैज्ञानिक भी मानते हैं कि सारी सृष्टि की वस्तुओ के रहस्य को समझना शायद मनुष्य की शक्ति के परे है। केवल एटम बम के आविष्कार ने मनुष्य की स्थिति को डाँवाडोल कर दिया है, सारी राजनीति जटिल हो गयी है। इसी से हम भविष्य का विचार कर सकते हैं। जितना हम सृष्टि के रहस्य का उद्घाटन करेंगे, उसका प्रकोप उतने ही वेग से समाज पर पडेगा। शायद इसीलिए प्राचीन मनुष्य प्रकृति की पूजा करता था और उसकी जटिलता तथा रहस्य के प्रपच में नही पडता था। प्राचीन विद्वानो ने इसीलिए सृष्टि को या ईश्वर को अगम कहा है और यह भी कहा है कि इसे बुद्धि से नही, प्रेम तथा भक्ति से समझा जा सकता है। आज भी ग्रामीण प्रकृति का पूजन करता है, प्रकृति का प्रतिस्पर्धी या दुश्मन नहीं बनता, अपितु प्रकृति के साथ चलने का प्रयास करता है। हिम- मण्डित पर्वतो पर भी मनुष्य रहता है। सूर्य की तीव्र धूप भी सहन कर लेता है, फिर भी हिमालय तथा सूर्य की पूजा करता है। वह जानता है, प्रकृति यदि उसे हानि पहुँचाती है तो साथ ही उसे लाभ भी देती है।

इसी प्रकार चित्रकला में यदि चित्रकार प्रकृति की नकल करे या उसका प्रतिस्पर्धी बने तो समस्या जटिल ही होगी। चित्रकला तो मनुष्य की अभि-व्यक्ति का एक माध्यम मात्र है, सरल भाषा में अपने भावो को व्यक्त करना है। यदि चित्रकार यह चाहता है कि उसकी कला की भाषा को समाज भी समझ सके और उसका आनन्द ले सके तो उसे सरल बनना पडेगा, शायद उसी भाँति जैसा कि अति प्राचीन कला का रूप था।

जिस प्रकार यह कोई नही कह सकता कि आदिम निवासी आज से कम सुखी थे, उसी प्रकार यह भी नही कहा जा सकता कि उनकी कला आधुनिक कला से कम प्रभावोत्पादक थी। शायद उस समय मनुष्य अधिक सुखी था और उसकी कला का रूप भी अधिक सामाजिक था।

प्रतीकात्मक प्रवृत्ति

मनुष्य अपने को व्यक्त करना चाहता है। यह उसकी जन्मजात प्रवृत्ति है। दूसरी प्रवृत्ति, जो मनुष्य में आरम्भ से ही है, अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए अनेक वस्तुओ का निर्माण करने की है। ये दोनो प्रवृत्तियाँ आपस में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। जब मनुष्य को किसी की आवश्यकता होती है तो वह सर्वप्रथम उस वस्तु की कल्पना करता है। कल्पना करना भी अपनी इच्छा को या इच्छा की वस्तु को, चाहे मन में या किसी से व्यक्त करना ही है। वह अपने से व्यक्त करता है कि उसे किस वस्तु की आवश्यकता है। इतने से ही यदि काम चल जाता और कल्पना करने से ही वस्तु मिल जाती तो मनुष्य के लिए अपने को दूसरे से व्यक्त करने की आवश्यकता शायद न पडती। कल्पना करने पर मनुष्य चाहता है कि उसको साकार रूप में देखे। वह केवल इच्छा ही नही करता बल्कि इच्छित वस्तु को, अपनी कल्पना में आयी हुई वस्तु को प्राप्त करना चाहता है। मनुष्य यदि अकेले बिना किसी की सहायता के अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर लेता तो भी उसे अपने को दूसरो से व्यक्त करने की आवश्यकता न पडती। पर मनुष्य हार यही खाता है। वह देखता है कि वह अकेले अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त नही कर सकता। उसे दूसरे व्यक्तियो का भी सहयोग चाहिए। इसी आधार पर समाज का निर्माण हुआ। मनुष्य ने अपने को दूसरो से व्यक्त करना आरम्भ किया।

अपने को व्यक्त करने के लिए भी साधन की आवश्यकता हुई। मनुष्य इस बात की चेष्टा करने लगा। कल्पना की, इशारो से पहले उसने अपने को व्यक्त किया। इशारो के द्वारा जब मनुष्य अपने को व्यक्त करने लगा और उसमें सफलता मिली तो उसको लोगो ने याद करना और अनुकरण करना आरम्भ किया और एक-दूसरे पर निश्चित इशारो ने प्रयोग होने लगा। प्रत्येक इच्छा धीरे-धीरे इशारो से प्रकट की जाने लगी। इशारो का एक विज्ञान बन गया। भाषा बन गयी। इस प्रकार, अपने को व्यक्त करने की चेष्टा में मनुष्य ने अनेक कलाओ का निर्माण किया।

मनुष्य की अभिव्यक्ति में चित्र-रचना अति प्राचीन है। वैसे तो बालक पैदा होते ही मुँह से स्वर निकालता है और मुद्राएँ बनाता है अपनी अभिव्यक्ति के लिए, और इसमें सफलता भी पाता है, परन्तु इससे वह साफ-साफ आरम्भ में अपनी सब इच्छाओं को व्यक्त नहीं कर पाता। जैसे-जैसे बालक बढ़ता है वह इशारों, मुद्राओं तथा स्वरों और शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग करता जाता है। परन्तु आदि काल में जब मनुष्य जंगली था और भाषाओं का कोई निश्चित स्तर नहीं रहा होगा, मनुष्य अपनी सारी इच्छाओं को स्वर या शब्द के द्वारा प्रकट नहीं कर पाता था। उस समय सबसे आसान यही मालूम पड़ा होगा कि जिस वस्तु को वह पाना चाहता है उसे ही यदि दिखाकर माँगे तो लोग तुरन्त उसका तात्पर्य समझ लेंगे। इसका भी प्रयोग उसने किया होगा, जिसको शिक्षा-सिद्धान्त में 'डाइरेक्ट मेथड आफ टीचिंग' कहते हैं। परन्तु यह भी अधिक सफल न हुआ होगा, क्योंकि यदि इच्छित वस्तु उसके पास रहती ही तो वह उसका प्रयोग कर ही लेता। व्यक्त करने की आवश्यकता ही क्या थी ? इसलिए जब उसे ऐसी वस्तु की आवश्यकता हुई होगी जो उसके आसपास प्राप्त नहीं है तो सबसे सरल तरीका उसका चित्र बनाकर ही व्यक्त करना प्रतीत हुआ होगा और इस प्रकार चित्रकला का जन्म हुआ।

आदि काल में वस्तु का चित्र बना देना भी इतना आसान न रहा होगा कि इच्छित वस्तु का पूर्ण चित्र बनाया जा सके। इतना अभ्यास, इतनी शक्ति, इतना ज्ञान मनुष्य में नहीं रहा होगा, परन्तु इसका प्रयत्न मनुष्य ने करना आरम्भ किया। वस्तु को पूर्ण रूप में यथार्थता के साथ व्यक्त करने का प्रयत्न किया, परन्तु इतनी शक्ति न होने के कारण वह केवल वस्तुओं का प्रतीकात्मक रूप ही बना सका होगा। ऐसे प्रतीक जिनको देखकर इच्छित वस्तु का बोध हो सके। धीरे-धीरे इन प्रतीकों को मनुष्य ने स्मरण कर लिया होगा और ये अभिव्यक्ति में प्रयुक्त होने लगे। इसी को आज हम प्रतीकात्मक चित्रकला का नाम देते हैं। आगे चलकर सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह प्रतीक वस्तु के रूप के और भी समीप होते गये और वस्तु और उसके प्रतीक के रूप में भिन्नता बहुत कम हो गयी। ऐसी चित्रकला को यथार्थवादी चित्रकला कहा गया। परन्तु आधुनिक युग में अनेक विज्ञानों तथा विद्याओं के आविष्कार के बाद भी मनुष्य ने देखा कि वस्तु बिलकुल यथार्थ रूप में चित्रित कभी नहीं की जा सकती। हम चाहे जितना यथार्थ रूप वस्तु का बनायें, वह रहता केवल एक प्रतीक ही है उस वस्तु का। इसलिए चित्रकला प्रतीकात्मक ही कही जा सकती है, चाहे वह यथार्थ रूप के जितना भी समीप हो।

भारतवर्ष में चित्रकला सदैव प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक रही है। चित्रकला में यथार्थवादिता लाने का प्रयत्न बहुत ही कम हुआ। पश्चिम के बनिस्बत पूर्वी देशों में सभी

जगह प्रतीकात्मक चित्रकला का प्रचार रहा है। पश्चिमी देशो में जैसे-जैसे विज्ञान का प्रचार होता गया, वैसे-वैसे वहाँ की कला यथार्थवादिता की ओर अग्रसर होती गयी। विज्ञान का प्रभाव एशियाई देशो पर भी पडा और यहाँ भी यथार्थवादी दृष्टिकोण आधुनिक चित्रकारों का हुआ, परन्तु यथार्थवादी चित्रकला का यहाँ कभी विकास न हो पाया। आज भारत की तथा अन्य एशियाई देशो की चित्रकला प्रतीकात्मक अधिक है।

भारतवर्ष में प्राचीन चित्रकला अधिकतर धार्मिक ही रही है। अपने देवी-देवताओ, उनकी शक्तियों तथा चरित्र को दर्शाने के लिए यहाँ के चित्रकारो ने प्रतीकात्मक शैली ही अपनायी और उसमें महान् सफलता पायी। विष्णु, शिव, ब्रह्मा तथा इनके अवतारो के चित्र प्रतीको के सहारे ही विकसित हुए। इन देवी-देवताओं को कभी किसीने नहीं देखा, इसलिए इनका यथार्थ चित्र तो बन नही सकता, केवल कल्पना, वेदों तथा शास्त्रो और पुराणो के वर्णन के अनुसार प्रतीको से इनकी रचना की गयी। प्राचीन भारतीय चित्रकला में इस प्रकार के प्रतीको का प्रयोग हुआ है। ज्ञान की देवी सरस्वती को धवल वर्ण दिया, क्योकि श्वेत रग ज्ञान का प्रतीक है। इसी प्रकार देवी सरस्वती को हस वाहन मिला, क्योकि हस विवेक तथा बुद्धि का प्रतीक है, भुजाओ में वीणा, पुस्तक तथा कमल रखा, क्योकि ये कलाओ, विज्ञानो तथा विद्याओ के प्रतीक हैं। इसी प्रकार सारे देवी-देवताओ के चरित्र-चित्रण तथा शक्तियो को व्यक्त करने के लिए प्रतीको का सहारा लिया गया। इस प्रतीकात्मक शैली का जितना पूर्ण विकास भारतवर्ष में हुआ है, शायद और किसी देश में नही।

उन्नीसवी शताब्दी भर यूरोप में यथार्थवादी कला का प्रचार और विकास होता रहा और पूर्वी देशो में प्रतीकात्मक कला का ही प्रादुर्भाव रहा। इस शताब्दी तक आक्रमणो और राजनीतिक परिवर्तनो के कारण यूरोपवासी पूर्वी देशो की कलाओ के सम्पर्क में आये। इससे पहले उनको यह ज्ञान भी नही था कि उनके अतिरिक्त अन्य देशो में भी चित्रकला तथा ललित कलाओ का विकास हो चुका है। यहाँ की कला के सम्पर्क में आने पर उन्हें पता लगा कि चित्रकला केवल वाह्य सासारिक रूपो की नकल नही है बल्कि उससे ऊपर भी कुछ है। विख्यात यूरोपीय चित्रकला-आलोचक मिस्टर हर्बट रीड अपनी पुस्तक 'आर्ट नाउ' में लिखते हैं—

"लोगो ने एकाएक अनुभव किया कि चित्रकला वाह्य सासारिक रूपो का पुनर्निर्माण नही हो सकती, वाह्य सासारिक स्वरूपो की केवल एक झलक हो सकती है।"

"उदाहरणार्थ, उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में जापान से आये हुए चित्रो

का प्रभाव समस्त उत्तर-आभासिक धारा पर अपने गुण तथा गणना के अनुपात से भी अधिक पड़ा।"

इस समय फ्रास के एक गाँव में पाल गोगाँ नामक चित्रकार एशियाई चित्रो से इतना प्रभावित हुआ कि अपना सारा कामकाज छोडकर उसने इन्ही चित्रो के आधार पर चित्र रचना का कार्य आरम्भ किया। १८८८ ईसवी में उसकी मुलाकात एक दूसरे चित्रकार से हुई जिसका नाम पाल सेरूसिया था। पाल सेरूसिया उस समय चित्रकला के क्षेत्र में काफी ख्याति प्राप्त कर चुका था। उसने पाल गोगाँ के नये चित्र देखे और उनकी रोचकता तथा ताजगी देखकर वह बहुत प्रभावित हुआ। दोनो ने मिलकर यूरोप में चित्रकला की एक नयी धारा ही निकाल दी, जो आज की आधुनिक यूरोपीय कला का आधार बन गयी है। फ्रास के विश्वविख्यात कलाकार वान गाग ने भी इस धारा से प्रभावित होकर रचना की। उस समय यूरोपीय साहित्य में प्रतीकात्मक धारा चल रही थी, इसीलिए गोगाँ तथा सेरूसिया की चलायी हुई चित्रकला की नवीन धारा का नाम प्रतीकात्मक चित्रकला नही पड़ सका, यद्यपि आज भी जो यूरोपीय आधुनिक चित्रकला है वह अति प्रतीकात्मक है। पाँच शताब्दियो से यूरोपीय चित्रकला जिस रास्ते से जा रही थी, उसने एकाएक अपना रास्ता बदल दिया। बाह्य सासारिक स्वरूपो का चित्रण करना बिलकुल आवश्यक नही समझा जाने लगा। कलाकार इन बाह्य स्वरूपो के अन्दर छिपी किसी अन्य वस्तु के भावो का चित्रण करने के लिए उद्यत हुआ, जिनको बिना प्रतीको की सहायता से बनाया ही नही जा सकता।

जिस समय इस नयी धारा का जन्म फ्रास के एक गाँव में हुआ, किसी ने आशा न की थी कि एक दिन वह आधुनिक यूरोपीय कला के प्रसार का आधार बनेगी और एक शक्तिशाली चित्रकला-शैली में परिणत हो जायगी। आज की आधुनिक जटिल होती हुई कला की कुंजी बनेगी। पाँच सदियो की यूरोपीय चित्रकला केवल वर्णनात्मक स्वरूपो को लेकर आगे न बढ सकी और उसे प्रतीकात्मक बनना पडा।

इस प्रकार पूर्वी देशो की प्रतीकात्मक आलकारिक चित्रकला ने आधुनिक यूरोपीय कला को नयी प्रेरणा दी जिसके फलस्वरूप वहाँ अब वस्तुओ के बाह्य सासारिक स्वरूपो का चित्रण करना बि-कुल निकृष्ट समझा जाता है। कुछ समय पहले जब इस नयी धारा का प्रचार नही हुआ था तो यूरोप में भारतीय तथा पूर्वी चित्रो को देखकर लोग उन्हें अपभ्रश शैली या अपरिपक्व कला कहकर छोड़ देते थे। वे देखते थे कि उनकी बाह्य सासारिक स्वरूपो की चित्रकला-पद्धति की समानता में पूर्वी कला में कुछ भी दम न

था। यूरोपीय कला यथार्थ स्वरूपों का चित्रण करने में काफी सफल हो चुकी थी। नये-नये सिद्धान्त भी बन चुके थे, जैसे दृष्टि-विज्ञान इत्यादि। यत पूर्वी चित्रो में यह दृष्टि-विज्ञान नही प्रयुक्त होता था, यूरोपीय लोग यही समझते थे कि अभी पूर्वी देशो की चित्रकला बहुत ही प्रारम्भिक स्थिति में है, यद्यपि वहाँ चित्रकला का कार्य यूरोप से हजारो वर्ष पूर्व से होता रहा है। प्रगति या विकास, किसी एक जाति अथवा वर्ग की सपत्ति नही है। यह तो आज का विज्ञान तथा मनोविज्ञान दोनो मानते है कि प्रगति सभी जगह एक प्रकार से होती है। जो चित्रकला हजारो वर्ष से बन रही है उसमें विकास भी अधिक होगा, यह बिलकुल स्वाभाविक है। यह सोचना कि उस देश में जहाँ कला का कार्य हजारो वर्षो से होता आ रहा है, लोगो को पर्स्पेक्टिव का ज्ञान न हुआ होगा, उचित नही है। हाँ, हम यह कह सकते है कि शायद वहाँ लोगो ने पर्स्पेक्टिव का ज्ञान चित्रकला में आवश्यक ही नही समझा। यहाँ की कला प्रतीकात्मक ही बनी रही और उसी ओर प्रगति करती रही।

कला का प्रत्येक रूप आत्म-अभिव्यक्ति है, इच्छाओ की पूर्ति है। पूर्वी कला ने पूर्वी कलाकार को सन्तोष प्रदान किया, क्योकि उसकी निर्माणकारी वृत्ति को सन्तोष मिला। उसने रेखाओ में लय खोजी, रग में सामजस्य (समता) और रूपो में पूर्णता। यह सब उसे बिना पर्स्पेक्टिव की सहायता के मिला।

आधुनिक यूरोपीय चित्रकला पर भारतीय प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक चित्ररचना का बहुत गहरा प्रभाव पडा। उन्नीसवी शताब्दी में यथार्थवादी चित्रकला तथा आभासिक चित्रकला, जो यूरोप में अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी, एक बार परिवर्तित हो गयी। बीसवी शताब्दी की आधुनिक कला का आरम्भ पाल गोगाँ से होता है, जिस ने आभासिक तथा उत्तर आभासिक चित्रकला का रुख ही बदल दिया और प्रतीकात्मक, लाक्षणिक तथा आत्म-अभिव्यजनात्मक चित्रकला की नयी धारा की नीव डाली। आज यूरोप में इस नयी धारा का सर्वथा प्रचार हो गया है। यूरोप की कला प्रतीकात्मक हुई जा रही है और भारतीय तथा पूर्वी चित्रकला उनका पथ-प्रदर्शन करने के लिए शुभा-गमन कर रही है।

आधुनिक भारत में चित्रकला के क्षेत्र में लोग भ्रम में पडे है। अग्रेजी आधिपत्य के साथ यहाँ भी यथार्थवादी चित्रकला का काफी प्रादुर्भाव हो चुका है। स्वामिभक्त गुलामो की तरह भारतवासियो ने अग्रेजो को अपना पथ प्रदर्शक माना। अग्रेज तो भारत छोड-कर चले गये, इसलिए अब हमें पथ सूझता ही नही। आज भी यहाँ यथार्थवादी चित्रकला

की माँग है और चित्रकार वह माँग पूरी कर रहे हैं। परन्तु आधुनिक नवयुवक चित्रकारो की आँखो में आधुनिक यूरोपीय चित्रकला ने चकाचौंध कर दिया है, जिससे प्रभावित होकर वे भी प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक चित्रकला की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इसी को कहते हैं "द्राविड प्राणायाम" अर्थात् सीधे नाक न पकडकर उलटे नाक पकडना। आधुनिक भारतीय चित्रकार परम्परागत प्राचीन भारतीय प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक चित्रकला की ओर न जाकर, जो महासागर के सदृश हमारे देश में भरी पडी है, वे अनुकरण-वृत्ति के कारण यूरोप की प्रतीकात्मक तथा आत्म- अभिव्यजनात्मक चित्रकला से अधिक प्रभावित हो रहे हैं, सागर छोडकर गागर की तरफ दौड़ रहे हैं। यूरोप तो कला के क्षेत्र में, अपने को दिवालिया पाकर भारत तथा अन्य पूर्वी देशो की कला का आधार ले रहा है और यहाँ हम प्रेरणा के लिए उलटे उसका अनुकरण कर रहे हैं।

आधुनिक भारतीय कलाकारो में बगाल चित्रकला-शैली के विख्यात चित्रकार श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री नन्दलाल बोस, श्री क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार इत्यादि ने भी अपने चित्रो में, अभिव्यजना में, भारतीय प्रतीको का सहारा लिया है, यद्यपि तूलिका-कौशल में इन पर भी यथार्थवादी चित्रकला का प्रभाव रहा है। इस शैली के चित्रकारो में श्री नन्दलाल बोस ने प्रतीकात्मक भारतीय प्राचीन शैली का सबसे अधिक अध्ययन किया है और अपने चित्रो में इसका प्रयोग भी किया है। देवी-देवताओ के चित्र उन्होने सबसे अधिक बनाये हैं और उनमें प्रतीको द्वारा ही अभिव्यजना हुई है। यामिनी राय इस समय सबसे अधिक विख्यात चित्रकार हैं। इनकी चित्रकला-शैली भी प्रतीकात्मक है और इसमें उन्होने बड़ी सफलता पायी है। उन्होने अपने चित्रो में नये प्रतीको का भी प्रयोग किया है और लोक-कला से प्रेरणा ली है। लोक-कलाएँ भारत में सब जगह प्रतीकात्मक हैं, और इसमें मुख्य बात यह है कि प्रतीको का रूप सरलतम होता है। आधुनिक कलाकारों में श्रीमती ली गोतमी ने तिब्बती तथा नेपाली प्रतीकात्मक कला से प्रभावित होकर बहुत सुन्दर चित्रो की रचना की है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के चित्रकला विभाग म भी वहाँ के विद्यार्थियो ने प्राचीन भारतीय प्रतीकात्मक चित्रकला को आधार मानकर नवीन चित्रो की रचना की है। महेन्द्रनाथ सिंह के चित्र इस दृष्टिकोण से बहुत ही प्रभावोत्पादक हैं।

वर्णनात्मक प्रवृत्ति

वर्णन करना भी मनुष्य जाति की एक बहुत प्राचीन प्रवृत्ति है। वर्णन करना, मनुष्य की आत्म-अभिव्यक्ति का एक तरीका है। जीवन में मनुष्य जो कुछ अनुभव करता है, उसका स्वय लाभ तो उठाता ही है, परन्तु केवल इसीने उसे सन्तुष्टि नही होती। वह चाहता है कि उसके अनुभवो का दूसरे भी लाभ उठायें। इसमें भी उसे सन्तुष्टि मिलती है। वर्णन करने की प्रवृत्ति के साथ-साथ मनुष्य को वर्णन सुनने की भी प्रवृत्ति होती है। वह केवल वर्णन करता ही नही बल्कि वर्णन सुनना भी चाहता है। इससे उसके ज्ञान की वृद्धि होती है। बालक स्वय वर्णन करने योग्य नही होते, क्योंकि न तो उनके शब्द-भण्डार की वृद्धि हुई होती है, न अनुभव की, परन्तु आरम्भ से ही उन्हें वर्णन सुनने में आनन्द मिलता है। दो वर्ष का बालक भी कहानियाँ सुनना पसन्द करता है, और प्रसन्न होता है। ऐसा शायद ही कोई बालक हो जिसे कथा-कहानी सुनने में आनन्द न मिलता हो। बालक चाहे शहर का हो या गाँव का, अमीर घर में उसने जन्म लिया हो या गरीब घर में, उसे कहानी भाती है। प्राय देखा गया है कि गाँव के बच्चे कथा-कहानी सुनने में और भी अधिक उत्सुकता दिखाते है। गाँवो में कथा-कहानियों का प्रचार बहुत मिलता है। वहाँ के बालक, आधुनिक शिक्षा-प्रणालियो का लाभ उठा नही पाते, इसलिए कथा-कहानी उनकी शिक्षा का माध्यम हो जाती है। यही नही, जगली जातियो में भी किस्सा-कहानी का बडा प्रचार होता है। साहित्य का इतिहास खोजने पर भी कथा-कहानियो का स्थान पहले आता है।

वैसे तो कला मनुष्य के काम करने का केवल तरीका है और रचना करना उसकी जन्मजात प्रवृत्ति है। रचना करने और वर्णन करने में अन्तर है। रचना करने में मनुष्य को आनन्द मिलता है, जो इसी कार्य का आनन्द है, परन्तु वर्णन करना आनन्द दायक होते हुए भी अपना एक अन्य लक्ष्य भी साथ में रखता है। मनुष्य शायद वर्णन न करता यदि वर्णन सुननेवाला कोई न होता। कोई भी व्यक्ति अकेले वर्णन नहीं करता। वर्णन सुनने के लिए श्रोतागण होने चाहिए। परन्तु रचना के लिए यह आवश्यक नही

है। रचना करके आनन्द तुरन्त मिल जाता है, इसलिए कला के लिए, जो रचना का दूसरा नाम है, यह आवश्यक नही कि वह वर्णनात्मक हो। फिर भी रचना में वर्णन का महत्त्व कम नही किया जा सकता। रचना के साथ वर्णन आदि काल से चला आ रहा है, प्रधानतया ललित कलाओ के साथ और आज भी वर्णनात्मक रचना का प्रादुर्भाव कम नही हुआ है। किसी न किसी रूप में रचना में वर्णन आ ही जाता है, चाहे रचना करनेवाले ने इस पर ध्यान न भी दिया हो।

मान लीजिए, कुँम्भार मिट्टी के वर्तन वनाता है या उनकी रचना करता है। यहाँ उसका तात्पर्य केवल रचना करना है, वह वर्णन करना नही चाहता। परन्तु जरा सोचिए, जब मिट्टी के सुन्दर-सुन्दर वर्तन वनकर आपके सम्मुख आते है, आप उन्हें निहारते रह जाते हैं। उन वर्तनो की रचना का सारा इतिहास आपके सम्मुख आ जाता है। किस प्रकार कुँम्भार तालाव से खोदकर मिट्टी लाया होगा, उसे अच्छी तरह साफ किया होगा, गूँधकर चाक पर उसे रखा होगा, फिर चाक को अपनी लाठी से नचाते हुए अपनी उँगलियो को किस प्रकार गीली मिट्टी के ऊपर चलाता रहा होगा और रूप वनता चला गया होगा। क्या यह इतिहास नही है ? वर्णन नही है ? अवश्य है, परन्तु यह सव हमने उन वर्तनो को देखकर जान लिया। कुँम्भार ने जान-वूझकर कोई वर्णन करना नही चाहा था। इसी प्रकार चित्रकला या और सभी ललित कलाओ में वर्णन कलाकार का ध्येय चाहे न हो, पर उसमें वह रहता ही है। चित्र का एक-एक हिस्सा, पेंसिल तथा तूलिका के एक-एक नुक्ते, रगो के छोटे से छोटे धव्वे चित्र का इतिहास बताते हैं और वर्णन उसमें निहित है।

यहाँ हमारा ध्येय उस प्रकार की चित्रकला का वर्णन करने का है जो जानवूझकर वर्णनात्मक वनायी गयी है। हमारी सारी प्राचीन कला वर्णनात्मक शैली पर आधारित है। व्राह्मण कला, गुप्तकालीन कला, वौद्ध तथा जैन कला, राजपूत तथा मुगल कला सभी वर्णनात्मक हैं। हमारी आधुनिक लोक-कला भी वर्णनात्मक है। वर्णनात्मक शैली का जितना प्रादुर्भाव भारतवर्ष में हुआ और जितनी उत्कृष्ट वर्णनात्मक शैली यहाँ रही है, उतनी कदाचित् किसी काल में किसी देश में नही रही। यहाँ की वर्णनात्मक शैली का ढग ही निराला रहा है। उस समय हमारी उच्चकोटि की वर्णनात्मक चित्रकला-शैली ने हमारे समाज को जाग्रत करने तथा उसके उत्थान और शिक्षा में जो योग दिया है, उसके हम आज भी ऋणी हैं। वर्णनात्मक चित्रकला-शैली हमारी शिक्षा का मुख्य आधार वन गयी थी। पुस्तको तथा छापाखानो के न होने और उनके अभाव के समय यही एक सरल तथा कुशल माध्यम था, जिसके द्वारा मनुष्य शिक्षा पा सकता था।



वर्णनात्मक सूक्ष्म चित्र



राज्य शोक

भाषण का माध्यम तो प्रचार में था ही, परन्तु जो कार्य चित्रकला कर सकती थी, वह इसमे भी नही हो सकता था। भाषण तो फिर भी सर्वग्राह्य नही हो सकता था, परन्तु चित्रकला थी। प्रत्येक मन्दिर, राजभवन, राजसभाएँ, जनता-गृह, निवास-स्थान, इस प्रकार की वर्णनात्मक शैली के शिक्षालय थे और जनता के मनोरंजन तथा विकास के साधन थे। वर्णनात्मक शैली के सबसे उत्कृष्ट उदाहरण हमें बौद्ध चित्रकला में मिलते हैं, जो आज भी अजन्ता-एलोरा में प्राप्त हैं।

आधुनिक समय में शिक्षा के अनेको माध्यम ज्ञात हो गये हैं। पुस्तकें हजारो, लाखो की सख्या में छप-छपकर तैयार हो रही हैं। ग्रामोफोन, रेडियो तथा टेलीविजन का आविष्कार और प्रचार हो चुका है। ब्लाक प्रिन्टिंग तथा फोटोग्राफी स्थान-स्थान में फैल गयी है। यातायात के नये-नये तरीके आविष्कृत हो चुके हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर मनुष्य जरा से समय में पहुँचने लगा है। ऐसे समय में वर्णनात्मक चित्रकला ही जनता की शिक्षा का केवल माध्यम नही है, न उसका इतना महत्त्व ही रह गया है। फिर भी चित्रकला में वर्णनात्मक शैली को आज भी स्थान है, यद्यपि अब आधुनिक चित्रकार इसका उपयोग बहुत कम कर रहे हैं, परन्तु चित्रकला की शैलियो में वर्णनात्मक शैली का एक अपना स्थान है और रहेगा।

आधुनिक वर्णनात्मक चित्रकला शैली का रूप यद्यपि परिवर्तित हो गया है, परन्तु आज भी ऐसे अनेक चित्रकार हैं जो वर्णनात्मक शैली को अपनाये हुए हैं। आज के वर्णनात्मक शैली के चित्रकार पश्चिम से प्रभावित होकर अपनी प्राचीन वर्णनात्मक शैली को भुला बैठे हैं। जो शक्ति इस प्राचीन शैली में थी वह आज नही है। यदि हमें वर्णनात्मक शैली का उपयोग करना है तो प्राचीन परम्परा को आधार बनाना पड़ेगा, भले ही उसे हम आधुनिक अनुभव से परिमार्जित करें।

प्राचीन भारतीय वर्णनात्मक शैली की मुख्य विशेषता यह थी कि उनके चित्रो में वर्णन उसी भाँति स्वाभाविक रूप में होता था जैसे कथा-कहानियो में। एक ही भित्ति पर क्रमबद्ध रूप में एक के बाद दूसरा दृश्य आता जाता था, और कहानी की भाँति मनुष्य आगे बढता था। बुद्ध का जन्म, उनके बाल्यकाल के दृश्य, यौवन-काल के दृश्य, प्रौढावस्था के दृश्य, तथा वृद्धावस्था के दृश्य, इसी प्रकार क्रम चलता था। एक ही चित्र में अकबर का राजमहल, उसकी चहारदीवारी, बाह्य-वातावरण बाहर खड़े दरबारियो का दृश्य, भीतर का दृश्य, उसके तख्त का दृश्य, सभी चित्रित होते थे। सभी दृश्य एक समय के तथा सम्बन्धित होते थे। परन्तु आधुनिक वर्णनात्मक चित्र एक-एक कागज

पर अलग-अलग बनाये जाते हैं। एक चित्र में केवल एक विशेष स्थान का ही वर्णन होत है, जैसा मनुष्य आँख से देखता है। चित्र केवल अकबर के तख्त का हो सकता है, या उ कमरे का, या उसके भवन का। केवल एक ही हिस्सा दृष्टिगोचर होता है। मा लीजिए, अकबर के कमरे के द्वार पर एक पर्दा टँगा हो तो फिर चित्र में न अकब दिखाई पड़ेगा, न उसके तख्त का रूप। इस प्रकार हमारी वर्णन करने की शक्ति दृष्टिसम्बन्धी विद्या के ज्ञान से बँध जाती है। वर्णन करने से अधिक महत्त्व 'पर्सपैक्टिव का हो जाता है। इसीलिए आधुनिक चित्रों में चित्रकार की कुशलता उसके 'पर्स पैक्टिव' के ज्ञान से तौली जाती है, उसकी वर्णनात्मक कुशलता से नहीं। यह 'पर्सपैक्टिव का ज्ञान कला की भाषा को सरल बनाने के बजाय उसको और जटिल बना देता है। कल अपने ध्येय से हटकर केवल दृष्टिसम्बन्धी विद्या के ज्ञान को व्यक्त करने में फँस जात है। जो पाश्चात्य कला-आलोचक भारतीय वर्णनात्मक शक्ति के ज्ञान से वञ्चित रहे व सदैव प्राचीन भारतीय चित्रकला को प्रारम्भिक, अपरिपक्व तथा क्षीण ही समझते रहे और अपनी निम्न बुद्धि का परिचय देते रहे। दुःख तो इस बात का है कि हमारे बहुत से कला-आलोचक, चित्रकार और जनता भी इन पाश्चात्य प्रचारकों के चंगुल का शिकार बनकर रह गयी। आज भी हम जितना आनन्द पाश्चात्य यथार्थवादी कला का लेते हैं, उतना अपनी प्राचीन कला का नहीं ले पाते। यह हमारी दुर्बलता तथा अयोग्यता का द्योतक है। हम भी इन प्राचीन चित्रों को देखकर उन्हीं पाश्चात्य प्रचारकों के शब्द दुहराते हैं और कहते हैं कि उस समय हमारे कलाकार आधुनिक कला के सिद्धान्तों से वञ्चित थे और एक प्रारम्भिक अवस्था में थे। आज भी हम इन प्राचीन चित्रों को अस्वाभाविक समझते हैं और उनमें 'पर्सपैक्टिव' का ज्ञान न होने का आरोप लगाते हैं। परन्तु यही अज्ञान उस समय के शिल्पियों की दूरदर्शिता तथा कार्य-कुशलता का द्योतक है। जिसे हम अज्ञान समझते हैं वही उनकी शक्ति थी। आज उसे हम न पहिचान सकें, परन्तु यह शक्ति हमसे अब कोई नहीं छीन सकता।

भारतीय आधुनिक चित्रकारों में इस प्रकार की प्राचीन वर्णनात्मक शैली के अनुकूल चलनेवाले आज बहुत कम चित्रकार दिखाई पड़ते हैं। शायद ही इस समय भारत में कोई ऐसा चित्रकला विद्यालय हो जहाँ इसी आधार पर वर्णनात्मक शैली के चित्र बनते हों। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के चित्रकला विद्यालय में इसी प्राचीन वर्णनात्मक शैली को एक परिमार्जित आधुनिक स्वरूप देने का प्रयास हुआ है। बम्बई के युवक चित्रकार टी० ए० कामरी का "दावत", बाबजी हेरूर का "स्वतन्त्रता दिवस" इसी प्राचीन वर्णनात्मक शैली पर आधारित उच्च कोटि के चित्र हैं। कलकत्ते के कल्याण सेन ने भी ऐसे

कुछ चित्र बनाये है। बनारस के महेन्द्रनाथ सिंह का "विह्वल राजकुमारी" तथा "जीवन-यात्रा" उल्लेखनीय है। इन्होंने अपनी चित्रकला में वर्णनात्मक शैली को बहुत सुन्दर ढग से अपनाया है। यामिनी राय के बहुत से चित्र इसी शैली पर आधारित है। बनारस में काशी-शैली के कलाकारो ने भी इसे अपनाया है।

आदर्शवादी प्रवृत्ति

मनुष्य वुद्धि की शक्तियाँ लेकर ससार में जन्म लेता है। अपनी वुद्धि से ससार का अनुभव करता है। सवसे महान् अनुभव उसे आनन्द या सुख पाने की लालसा में होता है। यह अनुभव एक ऐसा अनुभव है जिसके इर्द-गिर्द मनुष्य के दूसरे अनुभव चक्कर काटा करते है। सुख पाने के चक्कर में मनुष्य तमाम वस्तुओ का अनुभव करता है और यह निश्चय करना चाहता, है कि सवसे अधिक सुख की प्राप्ति उसे कहाँ और किसमें होगी। यही निश्चय या विचार उसका आदर्श वन जाता है, जिसकी खोज में वह भ्रमण करता फिरता है। जिसका जैसा अनुभव होता है, वैसा आनन्द मिलता है और उसी के अनुरूप उसका आदर्श वनता है। इस प्रकार आदर्श केवल एक सूक्ष्म निश्चित विचार है, जो अनुभव पर आधारित है। जो व्यक्ति या समाज अपना एक निश्चित विचार तथा आदर्श वना लेता है और उसीके अनूकूल कार्य करने लग जाता है, उसी को आदर्शवादी पुरुष या समाज कहते है। चित्रकार भी इसी प्रकार अपने अनुभव पर आधारित अपना एक आदर्श वना लेता है और वह एक आदर्शवादी चित्रकार कहलाता है। ऐसा भी होता है कि एक ही समय में कई चित्रकार या चित्रकारो का समाज अपना एक ही आदर्श वनाये, तव उस समय की चित्रकला आदर्शवादी चित्रकला कहलाती है। प्रत्येक देश तथा समय में अक्सर एक ही आदर्श का सर्वग्राह्य प्रचार हो जाता है, जैसे व्राह्मण-काल में व्राह्मण आदर्श, वुद्ध-काल में वौद्ध आदर्श, तथा आधुनिक काल में जनतंत्र तथा साम्यवादी आदर्श। युग-युग में, देश-देश में, इसी प्रकार विभिन्न आदर्श समाज के वन जाते है और व्यक्ति इन्ही आदर्शों के अनुसार कार्य करता है। हम कह सकते है, प्रत्येक देश तथा काल में केवल आदर्शवादी कला का ही प्रादुर्भाव हुआ करता है या प्रत्येक कला आदर्शवादी है।

परन्तु ससार में ऐसे भी व्यक्ति होते है जो जीवन भर कार्य करते रहते है, उन्हें अनुभव भी होता जाता है, परन्तु कभी भी वे किसी निश्चय पर नही पहुँचते, न उनका कोई आदर्श वन पाता है। हम कार्य करते है, परन्तु यह विचार नही कर पाते, क्यो ? हम नही जानते

हम क्यो कार्य करते हैं। ऐसे व्यक्ति का कोई आदर्श नहीं होता और न उनका कोई दर्शन ही होता है। वह नदी के प्रवाह में उस तृण की भाँति है, जो जल की लहरों के बहाव के सहारे बहता जाता है। उसे इसका भी ज्ञान नहीं होता। यह तो हम उसके सम्बन्ध में टीका कर रहे हैं। हम जानवरो को बुद्धिहीन कहते हैं, परन्तु जानवर न यही जानता है कि वह बुद्धिहीन है, न उसे हमारी टीका की परवाह है। वह अपनी गति से चलता जाता है। इसी प्रकार बहुत से मनुष्य भी कार्य करते हैं। वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते न प्रयत्न ही करते है इसके लिए। ऐसे मनुष्य अधिकतर अपनी सहज प्रवृत्तियो की प्रेरणा से कार्य करते जाते हैं और इन कार्यों के कारण पर वे कभी विचार नहीं करते। केवल कार्य करते जाते हैं। ऐसे मनुष्य प्रयत्न और त्रुटि 'ट्रायल एण्ड एरर' के सहारे अपना सब कार्य कर लेते हैं। यह भी एक प्रकार का दर्शन है। इसमें कोई आदर्श नही होता, न कभी बनता है। जैसी समस्या उपस्थित होती है तुरन्त उसका हल निकाल लेते है, और आगे बढते हैं। इस प्रकार की कार्य-प्रणाली में विश्वास करनेवाले भी बहुत से दार्शनिक हैं जो "प्रेगमेटिस्ट" कहलाते हैं। इस दर्शन का पाश्चात्य देशो में बहुत प्रचार हुआ है। पाश्चात्य दार्शनिक डिवी इसी का पचारक है। कुछ लोग इस दर्शन को समझ कर चेतन रूप में कार्य करते हैं, कुछ बिना इसे समझे स्वभावत. ऐसा करते हैं। इसीके अनुसार बहुत से चित्रकार भी कला का कार्य करते है, इन्हें हम आदर्शवादी कलाकार नही कह सकते।

आदर्शवाद का प्रचार सबसे अधिक पूर्वी देशो में हुआ जहां की संस्कृति और सभ्यता का इतिहास अति प्राचीन है। पाश्चात्य आधुनिक देशो की सभ्यता तथा इतिहास इतना प्राचीन नही है, इसलिए यदि हम कहें कि उनका पूर्ण विकास भी अभी नही हो पाया है तो अतिशयोक्ति न होगी। ऐसी स्थिति में उस समाज के आगे उदाहरण कम होते हैं, और उसकी स्थिति अभी खोज की है, उनका भविष्य खोज पर आधारित है। इसलिए उन्हें अपनी सहज प्रवृत्तियो के सहारे ही चलना पडता है। ऐसे देश यथार्थवाद में अधिक विश्वास करते हैं। उनका आदर्श धीरे-धीरे बनता है। जैसे-जैसे उनकी प्रगति होगी, वैसे-वैसे उनका आदर्श निश्चित होगा। भारत एक अति प्राचीन देश होने के नाते यहां बहुत से आदर्श बन चुके हैं और यहां का व्यक्ति तथा समाज अधिकतर आदर्शवादी होता है। इसी प्रकार भारतवर्ष की कला भी अधिकतर आदर्शवादी रही है। भारत में विभिन्न दर्शनो का प्रचार हुआ और उसी के अनुसार विभिन्न चित्रकलाओ का प्रादुर्भाव हुआ।

जब किसी देश, जाति या व्यक्ति का आदर्श निश्चित हो जाता है, तो उसका रास्ता अधिक सरल हो जाता है। आदर्श के अनुसार व्यक्ति अपना लक्ष्य निश्चित करता है, यहाँ

तक पहुँचने का मार्ग निश्चित करता है, उस मार्ग पर चलने का सिद्धान्त बनाता है और उसी प्रकार उसकी कार्य-प्रणाली में परिवर्तन होता है। सभी बातें निश्चित हो जाती हैं। उसकी सफलता भी निश्चित हो जाती है। कला के कार्य का भी यही मार्ग हो जाता है, और उसमें सफलता का आधार दृढ़ हो जाता है।

भारतवर्ष की सम्पूर्ण कलाएँ आदर्शवादी रही हैं और इसीलिए उनके सिद्धान्त, उनकी कार्य-प्रणाली सभी निश्चित रही हैं। भारतीय कला के आदर्श, उनके सिद्धान्त तथा कार्य-प्रणाली का निश्चित विवरण हमें अपने वेदो, पुराणो तथा शास्त्रो में प्राप्त होता है, यद्यपि इस प्रकार के ग्रन्थो की खोज भली-भाँति नही हुई है। कला के ऊपर लिखे गये ग्रन्थ बहुत कम प्राप्त हैं, परन्तु विविध पुराणो में इन आदर्शों तथा सिद्धान्तो का उल्लेख किया हुआ मिलता है। इन पुराणो में वास्तु-विद्या, शिल्प-विद्या तथा चित्र-विद्या के नाम से बहुत से अध्याय मिलते हैं, जिनसे हम अपने भारतीय चित्रकला के आदर्श तथा सिद्धान्त जान लेते हैं। अभी तक जो खोज हुई है उसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण 'विष्णु पुराण' तथा श्रीराम-कुमार का 'चित्र-लक्षणम्' हैं। वैसे तो अन्य सभी पुराणो में कला के बारे में लेख प्राप्त हैं, पर चित्रकला की दृष्टि में 'विष्णु-पुराण' तथा 'चित्र-लक्षणम्' महत्त्वपूर्ण हैं।

आदर्शवादी चित्रकला में यद्यपि उसका आदर्श, सिद्धान्त तथा कार्य-प्रणाली निश्चित रहती है, पर इसका यह तात्पर्य नही कि कला में स्वतंत्रता नही रहती। आदर्शवादी कला में कल्पना का बड़ा महत्त्व होता है और प्रत्येक व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता होती है कि वह अपने अनुभव के अनुसार कल्पना करे, परन्तु दृष्टि-कोण निश्चित होना चाहिए, अर्थात् कल्पना का कोई निश्चित आधार होना चाहिए। कल्पना के योग से आदर्श की और भी पुष्टि होती है। मनुष्य की कल्पना का भी लक्ष्य होना चाहिए। कल्पना के आधार पर मनुष्य पुन. आदर्श की सृष्टि करता है, परन्तु यह आदर्श कोई नया आदर्श नही होता। परम्परागत आदर्शों का एक नया अनुभवगत स्वरूप होता है। ऐसे व्यक्तिगत रूप बनाने के लिए प्रत्येक मनुष्य को स्वतंत्रता है। यह नया अनुभव प्राचीन आदर्शो से भिन्न न होगा, केवल व्यक्ति के लिए अनुभूति होगी, जिसे वह नये रूप में समाज के सम्मुख उपस्थित करेगा।

आदर्शवादी कलाकार अपनी अनुभूति के अनुसार एक आदर्शलोक की कल्पना करता है। यह आदर्शलोक उसके वर्तमान वातावरण से परे होता है। ऐसी कल्पना वही करता है जो अपने वर्तमान वातावरण से सन्तुष्ट नही होता। अधिकतर मनुष्य अपने वर्तमान वातावरण से सन्तुष्ट नही होते, परन्तु साधारण मनुष्य अपने को उपायहीन समझकर

किसी प्रकार उसे सहता है या उसमें रहने का प्रयत्न करता है। ज्ञानी मनुष्य इस वातावरण से बचने का उपाय अपनी कल्पना से बनाता है। अपनी कल्पना के योग से वह अपने वर्तमान वातावरण को भी बदलने में बहुत कुछ सफल होता है। वह वातावरण को अपने अनुकूल बनाता है। यही कार्य वैज्ञानिक का भी है। वह विज्ञान के आधार पर अपने वातावरण को अधिक रुचिकर बनाता है। यही कार्य कलाकार का भी है। वह अपनी कल्पना के योग से अपने वातावरण को अधिक सुन्दर तथा आनन्द-युक्त बनाता है। इस प्रकार दार्शनिक एक काल्पनिक जगत् की सृष्टिकर उसी में भ्रमण करता है और अपने वर्तमान कटु वातावरण से बचता है।

आदर्शवादी चित्रकला में रंग, रूप, आकार, रेखा, भाव, रस और इसी प्रकार उसकी कार्य-प्रणाली निश्चित होती है। ऐसी चित्रकला का रूप सदैव एक-सा होता है। चित्र देखकर ही कोई उसके आदर्श को भांप सकता है। आदर्शवादी चित्रकार के चित्र सदैव एक-से होते हैं, उनकी कार्य-प्रणाली (टेकनीक) में भी भेद नहीं होता। प्रत्येक चित्र की कार्य-प्रणाली एक-सी होती है। चित्रों की रचना का आधार एक-सा होता है। चित्रों के रूप में परिवर्तन नहीं होता। आदर्शवादी चित्रकला के आलोचक ऐसी चित्रकला को प्रगतिवादी नहीं समझते। आधुनिक युग में प्रगतिवाद का बहुत प्रचार है। जिस कार्य में प्रगति न हो उसका कोई अर्थ ही नहीं होता। प्रगतिवादी चित्रकार केवल खोज में तथा अनुभव में विश्वास करते हैं और अनुभव और खोज का कोई अन्त नहीं है। अर्थात् निरन्तर खोज और अनुभव का कार्य चलते रहना चाहिए। आधुनिक कलाकार इसी में विश्वास करते हैं। यही हम उनका आदर्श कह सकते हैं और इस प्रकार आदर्शवादी चित्रकार वह है जो चित्र में किसी भाव या विचार को महत्त्व देता है, अर्थात् जो किसी विचार को चित्रित करता है। आधुनिक समय में आदर्शवादी चित्रकारों में श्री क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार तथा नन्दलाल बोस के नाम उल्लेखनीय हैं।

दार्शनिक प्रवृत्ति

आज चित्रकला आत्म-अभिव्यक्ति का एक माध्यम समझी जाती है। पाषाण-युग में भी मनुष्य आत्म-अभिव्यक्ति के हेतु चित्रण करता था। पाषाण-युग के खँड़हरों में चित्र आत्म-अभिव्यक्ति का कार्य करते हुए तो आज भी प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके चित्रो में कोई दर्शन छिपा हो, ऐसा आज शायद ही कोई विश्वास करे। प्रागैतिहासिक चित्रो की विद्वानो ने काफी खोज की है और आज बीसवी शताब्दी में यूरोप में तो इसी के आधार पर पुन चित्रकला का निर्माण हो रहा है। कहते हैं, विश्व-विख्यात चित्रकार पिकासो इजिप्शियन तथा नीग्रो प्राचीन चित्रो से इतना प्रभावित हुआ कि इसी के आधार पर उसने अपनी चित्र-कला की एक नयी धारा निकाल दी और आज अनेक चित्रकार उसी का अनुकरण कर रहे हैं। हम कह सकते हैं कि यूरोप एक भौतिकवादी देश है, इसलिए यदि वहाँ के चित्रकार प्रागैतिहासिक चित्रकला-पद्धति को आधार मानें या उससे प्रभावित हो तो कोई आश्चर्य नही, परन्तु भारतवर्ष सदा से दार्शनिक रहा है और रहेगा, इसलिए उसे इस प्रकार की भौतिकता में नही पड़ना चाहिए।

भारतवर्ष में भी प्रागैतिहासिक चित्रकला के उदाहरण मोहनजोदड़ो, हरप्पा, जोगी-मारा की गुफाओ तथा खण्डहरो में प्राप्त हैं। इस चित्रकला का मूल्याकन अभी भली-भाँति नही हो पाया है, परन्तु यदि भविष्य में हुआ भी तो यह शायद ही कहा जा सके कि यह चित्र दर्शन के ऊपर आधारित हैं। जोगीमारा की गुफाओ में जो चित्र मिलें हैं वे या तो आखेट के हैं या जानवरो तथा पक्षियोंके रेखाचित्र हैं। मोहनजोदड़ो तथा हरप्पा में वर्तनों, वस्तुओ पर बने कुछ टूटे-फूटे चित्र मिलते हैं और उनमें भी जानवर, पक्षी, मनुष्य तथा डिजाइन इत्यादि हैं। उन चित्रो में दर्शन नही मिलता। ब्राह्मण-कला, बौद्ध-कला, तथा जैन-कला में दर्शन मिलता है।

ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन, ये तीनो तीन प्रकार के दर्शन कहे जाते हैं और इसलिए इन कालो में जो चित्रकला हुई उसमें इन दर्शनो का दिग्दर्शन होना अपेक्षित है। इसलिए ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन कला दार्शनिक कही जाती है। बाद में मुगल तथा राजपूत-कला का

प्रादुर्भाव हुआ। मुगल-कला को भी दार्शनिक कोटि में गिनना निर्विवाद नहीं, परन्तु राज-पूत-चित्रकला इसका अपवाद नही। आधुनिक नवीन चित्रकला में तो हम स्वय ही अनुमान लगा सकते है कि इसमें दर्शन है या नही।

भारतवर्ष में आज भी ऐसे अनेको चित्रकार तथा चित्र-रसिक और आलोचक है जो दार्शनिक चित्रो को ही चित्र मानते है, जो स्वयं दार्शनिक चित्रकला में विश्वास रखते है और जो स्वय भी दार्शनिक है। आनन्दकुमार स्वामी ने इसी पक्ष को कला सम्बन्धी अपनी प्रत्येक पुस्तक में बार-बार दुहराया है। ओ० सी० गागुली तथा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसी विचार के रहे है। बगाल-शैली इस दिशा में बहुत प्रयत्नशील रही। श्री क्षितीन्द्र नाथ मजूमदार, असित हाल्दार इत्यादि चित्रकारो ने इसी प्रयत्न में अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया। परन्तु बगाल-शैली के अन्तर्गत ही एक नयी चेतना का प्रादुर्भाव बड़े वेग से हो चुका है जिसने इस शैली को शिथिल कर दिया है। इस नयी चेतना के चित्रकारो में शायद दर्शन की मात्रा बहुत कम या नही है।

जो दार्शनिक होगा उसकी चित्रकला भी दार्शनिक होगी, ऐसा अनुमान किया जाय तो अनुचित न होगा। वर्तमान परिस्थितियो में पेट के प्रश्न के सामने दर्शन हवा हो जाता है। यही प्रश्न चित्रकार के सामने भी है—फिर आधुनिक चित्रकार दार्शनिक कैसे हो सकता है? परन्तु दर्शन के पुजारी फिर भी चित्रकला में दर्शन देखना चाहते है। वे दर्शन से ही जीवन के सभी प्रश्नो को सरलता से हल करने का दावा करते है और कहते है कि आज भी भारत दर्शन की दृष्टि से ससार का सम्राट् है। यूरोप के चतुर राजनीतिज्ञ इस चुनौती के सामने नीति-पटुता से सिर झुका देते है और कहते है—भारतीयो! दर्शन तुम्हारा गौरव है, तुम्हारा अग है, तुम्हारा भोजन है, इससे कभी विमुख न होना। अग्रेजो ने भारत में दार्शनिक कला को खूब प्रोत्साहन दिया और जब तक वे भारत में रहे यहाँ की कला दर्शन की सीढी पर निरन्तर चढती रही।

डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बहुत से चित्र बनाये। इन चित्रो को भारत में बहुत थोड़े व्यक्ति चित्र समझते है। उनमें भी कुछ तो वे है जो यह सोचकर कि रवीन्द्र एक महान् कवि तथा दार्शनिक थे, इसलिए उनके चित्रोमें भी महान् दर्शन भरा होगा, उन्हें रहस्य-मय समझकर प्रशसा करते है। परन्तु समाज का एक बडा भाग उनके चित्रो का आनन्द लेने से वचित है। रवीन्द्रनाथ आधुनिक नवीन चित्रकला शैली से प्रभावित थे तथापि उनके चित्र बगाल-शैली से भिन्न है। दार्शनिक होते हुए भी जो चित्र उन्होंने बनाये है, वे दर्शन के लिए नही, अपितु आत्म-अभिव्यक्ति के लिए और सहज-निर्माण-प्रवृत्ति की प्रेरणा से।

यथार्थवादी प्रवृत्ति

चित्रकला के इतिहास में बहुत से वाद आये, परन्तु किसी समय या किसी देश में ऐसी कोई चित्रकला-पद्धति नही प्रचलित हुई जो यथार्थवादी के नाम से सम्बोधित की गयी हो। फिर भी यथार्थवादी शब्द चित्रकला के क्षेत्र में जितना प्रचलित है, शायद ही कोई अन्य वाद हो। यूरोप में तो इस शब्द का प्रचार रहा ही, परन्तु भारतवर्ष में भी यह बहुत प्रचलित हुआ। आज भी साधारण जनता चित्रकला के क्षेत्र में आये यदि किसी वाद से भलीभाँति परिचित है, तो 'यथार्थवाद' से। आज तक अधिकतर लोग यथार्थवादी चित्र पसन्द करते है।

यथार्थवाद शब्द यूरोपीय दर्शन में तो अवश्य बहुत प्रचलित रहा, परन्तु कला के क्षेत्र में वहाँ भी ऐसी कोई कला-पद्धति नही है, जिसे यथार्थवादी कहा गया हो। यथार्थवादी दर्शन में इसका तात्पर्य उस ज्ञान से है जिसमें ससार की वाह्य यथार्थता की प्रधानता रही है। यूरोपीय साहित्य ने दर्शन से यह शब्द अपनाया और यथार्थवादी साहित्य का प्रचलन हुआ। यथार्थवादी साहित्यकार जीवन को उसके अति सासारिक रूप में ही देखता है। वह इसमें अपनी वुद्धि या कल्पना से अधिक महत्त्व इन्द्रियजन्य ज्ञान को देता है। वह ससार को वैसा ही यथार्थ समझता है जैसा वह उसे अपनें नेत्रो से देखता है। वह ससार के वाह्य रूप को ही सत्य मानता है। उसके परे उसे कुछ नही दिखाई देता। इस दृष्टिकोण से यदि हम चित्रकला में आयी पद्धतियो का निरीक्षण करें तो इसकी समता उस चित्रकला-पद्धति से की जा सकती है जिसमें चित्रकार प्रकृति की वस्तुओ को उनके यथार्थ वाह्य रूप में चित्रित करना अपना मुख्य उद्देश्य रखता था। उन्नीसवी शताव्दी की यूरोपीय चित्रकला इस भावना से वहुत प्रभावित रही, यद्यपि इसके साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी काफी प्रादुर्भाव हो गया था, जिसके कारण वहाँ की चित्रकला केवल यथार्थवादी न रही वल्कि वैज्ञानिक सिद्धान्तो पर आधारित रही। ऐसी चित्रकला 'इम्प्रेशनिस्ट आर्ट' (आभासिक चित्रकला) के नाम से सम्वोधित की गयी। यदि हम यथार्थवादी चित्रकला का शुद्धतम रूप खोजना चाहें, तो वह हमें नीदरलैण्ड की कला में मिलता है और मुख्यत रूवेन्स तथा पीटर ब्रूगल की चित्रकला में।

रूबेन्स का नाम यूरोपीय चित्रकला के इतिहास में अमर हो गया है। यथार्थवादी चित्रकला में उससे बढकर संसार में कोई दूसरा चित्रकार नही हुआ। उसके चित्रो में अधिकतर स्थूलकाय नग्न युवतियो के चित्र है। वह ऐसे चित्र बनाने में बडा आनन्द लेता था। उसके नग्न युवतियो के चित्र आँख के सामने जीवित हो उठते है। शरीर की गठन, रंग, तथा मास-पेशियो को उसने इतनी यथार्थता के साथ चित्रित किया है कि दर्शक एक बार सिहर उठता है और इच्छा होती है कि वह अपनी ऊँगलियों से उनकी मास-पेशियो को दबाये या छूकर देखे। आँख को धोखा हो जाता है, चित्रो के पात्र जी उठते है, और दर्शक का इन्द्रियजन्य ज्ञान जाग्रत हो उठता है। सचमुच इस दृष्टिकोण से ससार में इससे बढकर दूसरा कोई चित्रकार दृष्टिगोचर नही होता।

उन्नीसवी शताब्दी में इङ्गलैण्ड में कान्सटेबुल तथा टर्नर दो चित्रकार यथार्थवादी चित्रकला में विख्यात हुए। कान्सटेबुल तथा टर्नर ने अधिकतर प्राकृतिक दृश्यो के चित्र बनाये और इनमें उन्होने जो कुशलता प्राप्त की, शायद ही किसी यूरोपीय चित्रकार को मिली हो। कान्सटेबुल अधिकतर गाँवो के ही प्राकृतिक दृश्य चित्रित करता था। प्रकृति का चित्रण जितनी स्वाभाविकता के साथ उसने किया, दूसरा कोई चित्रकार न कर सका। यूरोपीय साहित्य में वर्ड्सवर्थ को जो स्थान दिया जाता है वही चित्रकला में कान्सटेबुल को। कान्सटेबुल के चित्रो में प्रकृति बोल उठती है। दृश्य का एक-एक तृण सजीव हो उठता है। दृश्य के वृक्ष हरे रग के थोप नही मालूम पडते बल्कि झूमते हुए, लहराते हुए, खनकते हुए पत्तो के झुरमुट से प्रतीत होते है। ऐसा दृश्य शायद ही कोई अति निपुण फोटोग्राफर अपने कैमरे से खीच सके।

भारतवर्ष के दर्शन के इतिहास में मुश्किल से ही कही यथार्थवाद सुनायी पड सकता है। भारत ने प्रारम्भ से ही इस दृष्टिगोचर ससार को मिथ्या समझा। यहाँ सदैव से इहलोक और परलोक रहा। यहाँ प्रकृति को माया ठगिन कहा गया अर्थात् धोखा कहा गया। यहाँ कभी लोगो ने इस लोक में विश्वास ही नही किया। मनुष्य को सदैव यह जीवन नश्वर तथा मिथ्या बताया गया। बिलकुल यथार्थवाद का उल्टा। जिसे यथार्थवाद सत्य समझता रहा, उसे भारत ने मिथ्या कहा। इसी प्रकार भारत की कला में भी कभी यथार्थवाद शब्द नही आया। भारतवर्ष के चित्रकला के इतिहासमें एक भी स्थान ऐसा नही मिलता जहाँ यूरोप के यथार्थवाद के अनुरूप चित्रकला प्रचलित रही हो। बीसवी शताब्दी में अंग्रेजो के आधिपत्य-काल में भारत ने यथार्थवाद का नाम सुना। इससे परिचित हुआ। अंग्रेजो ने भारत की कला-कौशल की उन्नति तथा प्रचार की दृष्टि से यहाँ चित्रकला विद्यालय भी खोले और यथार्थवादी चित्रकला का प्रचार करना प्रारम्भ किया। यहाँ की जनता ने

इसका खूब स्वागत किया । भारतीय कलाओ का ह्रास हुआ । यहाँ का प्रत्येक मनुष्य यथार्थ से परिचित कराया गया । साहित्य में, दर्शन में, कला में यथार्थवाद घुस आया । जिस प्रकार मधुशाला में साकी के पीछे लडखडाते पाँवो से लोग नाचते फिरते है, उसी भाँति यथार्थवाद से लोग इस प्रकार चिपक गये जैसे गुड से चीटा । जीवन के प्रत्येक पहलू में यथार्थवाद समा गया ।

चित्रकला के क्षेत्र में यथार्थवादी चित्रकार राजा रवि वर्मा हुए है । भारतीय कला, जिसका प्राण निकल चुका था, उसे पुन· जीवित करने के प्रयास में भारतीय चित्रकार राजा रवि वर्मा सबसे पहले आये । यथार्थवादी चित्रो का प्रचार इनके समय में जितना हुआ उतना न पहले कभी था, न बाद में हुआ । राजा रवि वर्मा ने धार्मिक, सामाजिक, ऐति-हासिक सभी प्रकार के यथार्थवादी चित्र बनाये । एक बार कैपकामोरिन से लेकर कश्मीर तक उनके यथार्थवादी चित्र फैल गये । जिस प्रकार अग्रेजो के पहले भारत मे शायद ही कोई ऐसा एक राज्य रहा हो जो लका से हिमालय तक और वर्मा से अफगानिस्तान तक फैल सका हो, उसी प्रकार यह यथार्थवादी कला थोडे से समय में सम्पूर्ण भारतवर्ष मे व्याप्त हो गयी । राजा रवि वर्मा के चित्र प्रत्येक घर में टँगे दिखाई पडने लगे । शायद इतना प्रचार यूरोप में रूवेन्स का भी न रहा हो ।

पुराने रईस, राजा, महाराजा, सभ्य पुरुषो ने अपने-अपने महलो और घरो में जो प्राचीन भारतीय चित्र लगे थे, उतार फेंकना आरम्भ किया और राजा रवि वर्मा तथा अन्य इस भाँति के कलाकारो के चित्रो से घर को सजाने लगे । इनके घरो तथा महलो से उतारे हुए भारतीय चित्र गुदडी में नजर आने लगे, लोगो ने दो पैसे सेर के भाव से उसे मोल लिया, पुडिया बाँधने के लिए । पर इन चित्रो से तो पुडिया भी नही बँध सकती थी क्योकि कडे हाथ के बने कागज या भोजपत्र पर ही ये चित्र बनते थे । कहते है, भारत का बोझ इन चित्रो से हलका करने के लिए अग्रेज इन्हें अपने यहाँ उठा ले गये जो आज भी यूरोप के म्यूजियमो को सुशोभित कर रहे है । आज भारतवर्ष में उतने प्राचीन चित्र नही है जितने यूरोप में । राजाओ, महाराजाओ ने अपना बोझ हलका करने के लिए अपने राजमहलो, मन्दिरो की दीवारो पर बने प्राचीन चित्रो पर सफेदी पुतवा दी ।

इस प्रकार यथार्थवादी चित्र नयी पृष्ठभूमि पर बनाये गये और उनका प्रादुर्भाव हुआ । भारतीय जनता ने अन्धकार को दूरकर यथार्थ को समझा । बच्चा-बच्चा यथार्थ को समझने लगा और प्रेम करने लगा । चित्रकला विद्यालय तथा प्रदर्शनियाँ यथार्थवादी चित्रकला से चमक उठी । जनता पुन प्रफुल्ल हो उठी । प्रत्येक सभ्य भारतीय नागरिक के घर में रूवेन्स, टर्नर, कान्सटेबुल सुशोभित हो उठे । यहाँ का साहित्य, कला, नीति,

दर्शन, सभी विद्याओं में यथार्थवाद लहराने लगा। देवी-देवताओं, ऐतिहासिक महानुभावों के स्थान पर नग्न युवतियों, प्राकृतिक दृश्यों तथा भोग-विलास के दृश्यों के यथार्थ चित्र टँग गये।

राजा रवि वर्मा भारतीय थे। फिर भी उनमें भारतीय भावना तथा मर्यादा बाकी थी। उन्होंने देवी-देवताओं के चित्र बनाना न छोड़ा। चित्रकला-पद्धति में वे प्रत्यक्ष यूरोप से प्रभावित हुए थे, पर चित्र भारतीय बनाते थे। यूरोपीय चित्रकला-पद्धति में जब किसी वस्तु का चित्र बनाना होता है तो उस वस्तु को सामने रख लिया जाता है और यथार्थता के साथ उसका अनुकरण किया जाता है। रूबेन्स ने जितने नग्न युवतियों के चित्र बनाये हैं मन गढ़न्त या काल्पनिक नहीं हैं। दिन-रात एक करके, रूबेन्स ने अपनी स्त्रियों को अपने सम्मुख करके, तब इन जीवित चित्रों की रचना की थी। यथार्थ चित्र बनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि चित्रकार जिस वस्तु का चित्र बनाने जा रहा है, उससे भली-भाँति परिचित हो, उस वस्तु का अधिक से अधिक आनन्द उसने उठाया हो। जब तक इन वस्तुओं का पूरा भोग चित्रकार नहीं कर लेता तब तक उसके विचार पवित्र नहीं होते और यथार्थ चित्र भी नहीं बन सकते। रूबेन्स अपने माडेल्स का जब पूरा आनन्द ले चुकता था तब उनके चित्र बनाता था। उस आनन्द की मदिरा में चूर होकर ही वह सफल चित्र बना पाता था। बेचारे रवि वर्मा तो फिर भी भारतीय थे। उनके लिए यह आनन्द लेना कितना दुर्लभ रहा होगा, यह तो आज भी हम अनुभव करते हैं। इसीलिए भारतवर्ष में यथार्थवादी चित्रकारों में एक भी ऐसा न हुआ जो यदि रूबेन्स के टक्कर का न हो सकता, तो कम से कम, उसका अनुकरण करने का प्रयास ही करता। राजा रवि वर्मा को वेश्याओं को माडेल बनाना पड़ा। प्रत्येक चित्र बनाने के लिए माडेल आवश्यक था। राजा रवि वर्मा अधिकतर धार्मिक चित्र बनाते थे जैसे सीता, सावित्री पार्वती इत्यादि। पर यथार्थ चित्रण करना आवश्यक था। वेश्याओं को सीता जैसे वस्त्र तथा आभूषण पहनाकर उनको उसी मुद्रा में बिठाकर राजाजी चित्र बनाते थे। चित्रकार की कुशलता इसी में देखी जाती थी कि माडेल का चित्रण कहाँ तक यथार्थ हो पाया है। इस प्रकार राजाजी ने सती सीता, सावित्री, पार्वती, देवी सरस्वती, लक्ष्मी इत्यादि के अनेकों चित्र बनाये और भारतीय घरों को सुशोभित किया। उनके उपकारों से हम कभी उऋण नहीं हो सकते।

राजा रवि वर्मा के समय से लेकर आज तक यथार्थवादी विचार प्रत्येक भारतीय के मस्तिष्क में चक्कर लगाया करते हैं। आज भी बीच-बीच में रसिक जन पुकार उठते हैं यथार्थ चित्रण के लिए। साधारण गाँवों की जनता इस यथार्थ का अधिक लाभ न उठा सकी

परन्तु प्रत्येक सभ्य भारतीय शिक्षित मानव पर यथार्थ की गहरी छाप पडी । आधुनिक समय में नित्य नये-नये चित्रकला के रूप आ रहे हैं । पुन प्राचीन भारतीय चित्रकला परम्परा को सचित करने का तथा जीवित करने का अधिक प्रयत्न हो रहा है, परन्तु भारतीय शिक्षित जन इस आवाज को नही सुन पाते, वे आज भी चित्रकार से यथार्थ चित्र की माँग करते हैं । यद्यपि आज का कलाकार इस माँग पर तनिक भी ध्यान नही देना चाहता । आज का चित्रकार स्वतत्र है, उसके स्वतत्र विचार है, वह जनता की माँग में विश्वास नही करता वल्कि स्वय उसे कुछ निवि प्रदान करना चाहता-है, जो जनता की माँग तो नही है पर समय की, देश की पुकार अवश्य है ।

आधुनिक समय में यथार्थवादी चित्रकला का संसार में कही भी प्रचार नही है, यूरोप मे भी नही । भारतवर्ष में यह विचार आया अवश्य, परन्तु ऐसा कोई भी यथार्थवादी चित्रकार न हो सका, जिसकी तुलना कुशल यूरोपीय यथार्थवादी चित्रकार से हो सके । राजा रवि वर्मा से इस विचार का पदार्पण भारत में अवश्य हुआ, सारे कला विद्यालय इन्ही विचारो के अनुसार शिक्षा भी देने लगे, परन्तु 'खोदा पहाड निकला चूहा' वाली लोकोक्ति चरितार्थ होती है । वैसे तो सभी प्रान्तो में यथार्थवादी चित्रकार रहे और है, पर उल्लेख-नीय कठिनाई से दो-चार हैं । कलकत्ते के मजूमदार तथा अतुल वोस, वम्बई के श्री देवस्कर, यू० पी० के ललित मोहन सेन, पजाव के ठाकुरदास, मद्रास के डी० पी० चौवरी का नाम यथार्थवादी चित्रकारो में लिया जाता है ।

आभासात्मक चित्र



वुढ़ापे की लाठी

आभासात्मक प्रवृत्ति

भारतवर्ष की प्राचीन चित्रकला में भी यथार्थवाद के उदाहरण मिलते हैं। पुराणों में तथा शास्त्रों में यथार्थवादी चित्रकला की पूर्णता के कुछ उदाहरण मिलते हैं। एक बार एक प्राचीन भारतीय राजा भयजीत नें एक मृतक बालक का चित्र बनाया जो बिलकुल उसी बालक की तरह था, केवल जीवन उसमें नहीं था। यह कार्य ब्रह्मा नें स्वयं किया और चित्र में बना बालक जीवित हो उठा। इसी प्रकार जब पाण्डवो ने अश्वमेध यज्ञ किया तो एक ऐसा राजभवन बनवाया जिसके फर्श पर इस प्रकार की चित्रकला हुई थी कि जहाँ समतल था वहाँ पानी मालूम पडता था और जहाँ पानी था वहाँ समतल। महाराज दुर्योधन स्वयं इस कला के शिकार हुए थे। इतने पूर्व हम न जायें और केवल राजपूत तथा मुगल कला पर ही दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि चित्रकार प्राकृतिक अनुकरण में आनन्द लेते हैं। भारत में अंग्रेजी शासन के साथ-साथ अंग्रेजी कला का भी बहुत प्रभाव पडा। उन्नीसवीं शताब्दी की अंग्रेजी कला प्राकृतिक चित्रण के लिए विख्यात है। कान्सटेबुल, टर्नर इत्यादि कलाकारों ने इस प्राकृतिक चित्रकला को एक बहुत ही ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया। भारतवर्ष में फिर से कला का प्रचार आरम्भ हुआ और यहाँ के चित्रकारो ने इस अंग्रेजी चित्रकला का खूब स्वागत किया। राजा रविवर्मा ने इस प्रकार की चित्रकला-शैली की नींव डाली और यहाँ की गुलाम जनता नें उनका सत्कार भी खूब किया। इसके बाद कला के क्षेत्र में श्री अवनीन्द्र-नाथ ठाकुर ने पदार्पण किया और आधुनिक बंगाल-चित्रकला का जन्म हुआ।

बंगाल-चित्रकला अंग्रेजी चित्रकला से प्रभावित तो थी, परन्तु भारतीयता का आन्दोलन इस समय तक आरम्भ हो चुका था। कुछ दिनो तक बंगाल-चित्रकला में राजपूत, मुगल, अजन्ता की चित्रकला की धूम रही, परन्तु अभी भी भारत गुलाम था और भारतीय चित्रकार विलायत की सैर कर वापस आने लगे थे और साथ-साथ वे चित्रकला का एक नया रूप भी लाये जिन्हें वहाँ "इम्प्रेशनिस्ट आर्ट" (आभासिक-चित्रकला) कहा जाता था। यह वहाँ की यथार्थवादी चित्रकला का एक रूपान्तर मात्र है।

यूरोप में उन्नीसवी शताब्दी में प्रकृति की नकल करने की चेष्टा होती रही। इसमें

उन्हें काफी सफलता भी मिली। परन्तु बीसवी शताब्दी तक आते-आते वह चेष्टा विफल होती-सी आभासित होने लगी। कदाचित् उन्हें अपनी अनधिकार चेष्टा का आभास हुआ कि प्रकृति की हूबहू नकल करना इतना सरल नही, शायद मनुष्य की शक्ति के बाहर है। प्रकृति की नकल-करते-करते वे थक गये। इसका यह तात्पर्य नही कि प्रकृति की हूबहू नकल करना उन्होंने छोड दिया, बल्कि वे सोचने लगे कि क्या प्रकृति की नकल करने का कोई सरल तरीका नही है। जब आदमी थक जाता है, तो सदैव सरल तरीका खोजता है। और यूरोप ने सरल तरीका खोज भी लिया। यही तरीका इम्प्रेश्निस्ट आर्ट याने आभासिक चित्र-कला कहलाता है।

आभासिक चित्रकला प्राकृतिक रूपो को चित्रित करने की एक शैली है। इसके द्वारा आसानी से व्यवहार-कुशलता, चमत्कार, टैकनिक के आधार पर, प्रकृति के रूप बनाये जाते है जो दूर से देखने पर बिलकुल स्वाभाविक लगते है। आधुनिक यूरोपीय कला-आलोचक हर्बट रीड आभासिक चित्रकला पर टीका करते हुए कहते हैं—

"चित्रकला प्रकृति की नकल न होकर, एक चमत्कार हो गयी जिसके द्वारा प्रकृति का साधारण रूप आभासित होता था।" यूरोप में आभासिक चित्रकला का आन्दोलन बडे वेग से फैला और काफी सफल रहा। इसके नेता सूरट तथा सिगनक माने जाते है और इनमें मुख्य चित्रकार मैने तथा माने इत्यादि है। इस शैली का सबसे अधिक विख्यात तथा सफल चित्रकार रेनुआ समझा जाता है।

आभासिक चित्रकला का मुख्य प्रयत्न यह था कि चित्र में जो भी प्राकृतिक दृश्य या वस्तु चित्रित की जाय वह इस प्रकार चतुराई से और कार्य-कुशलता से बनायी जाय कि देखने वाले को धोखा हो जाय। जैसे अगर एक बाग का दृश्य आभासिक चित्रकला शैली के अनुसार चित्रित करना है तो चित्रकार पेडो को रंगो के छोटे बडे ढेरो से इस प्रकार ढालेगा कि दूर से देखने पर ये बिलकुल प्राकृतिक पेड दिखलाई पडेंगे, पर पास से देखने पर केवल रंगो के विभिन्न प्रकार के छोटे-मोटे निरर्थक ढेर दिखाई देंगे। अर्थात् प्रकृति के रूपो की अक्षरश नकल नही की जायगी, बल्कि उन वस्तुओ की ऊपरी सतह तथा वर्ण या आवरण ही इस कार्य कुशलता से चित्रित किया जायगा कि वह देखने में बिलकुल प्राकृतिक लगे। जिस प्रकार प्रकृति के रूप सूर्य के प्रकाश के परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं, उसी के अनुसार चित्र में भी प्रकाश और छाया का इस प्रकार सम्मिश्रण किया जाय कि वस्तु प्राकृतिक लगे। इसीलिए इन चित्रकारो ने प्रकाश और छाया का वैज्ञानिक अध्ययन किया और उनसे प्राप्त सिद्धान्तो का अपनी चित्रकला में वैज्ञानिक ढग से प्रयोग किया। उन्नीसवी शताब्दी वैज्ञा-निक युग कहा गया है और चित्रकला में भी विज्ञान का होना आवश्यक है। अस्तु, हम देखते

है कि आभासिक चित्रकला में दो मुख्य कार्य-कुशलता दिखाई पड़ती है, एक तो ऊपरी सतह टेक्सचर की बनावट तथा प्रकाश और छाया का वैज्ञानिक प्रयोग ।

तीसरी बात जो आभासिक चित्रकला में बहुत ज्वलन्त है, उनके चित्रों का धुँधलापन है । अर्थात् इन चित्रो में अधिकतर धुंधले एक-दूसरे में मिलते हुए रंग तथा रूप दिखाई पड़ते हैं । भारत की आधुनिक बंगाल-शैली जिसमें वाश टेकनिक पायी जाती है, इस आभासिक शैली का तीसरा पक्ष है, जिसे बंगाल-शैली में बड़ा प्रमुख महत्त्व मिला है । प्रधानतया यूरोपीय आभासिक चित्रकार टर्नर का भारतीय बंगाल-शैली पर बहुत ही प्रभाव रहा है । यही कारण है कि यद्यपि हमारी सारी भारतीय परम्परा में शुद्ध रंगों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है, परन्तु बंगाल-शैली ने इसकी उपेक्षा की है ।

भारतीय आधुनिक चित्रकारो में स्वर्गीया अमृत शेर गिल, सुधीर खास्तगीर, बम्बई के वेन्द्र, तथा पी० सेन इत्यादि आभासिक चित्रकला के अनुयायियों में से प्रधान हैं । सुधीर खास्तगीर बंगाल-शैली के स्नातक रहे हैं, परन्तु यूरोप के सम्पर्क में आकर उन्होंने भारतीय आधुनिक चित्रकला में ऊपरी सतह की बनावट टेक्सचर को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है । इस दिशा में उनका प्रयास प्रशंसनीय है ।

सन् १६१६ई० में जब प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ तब तक यूरोप में कला की एक दूसरी ही धारा जो आभासिक चित्रकला का ही एक परिमार्जित रूप थी, पोस्ट इम्प्रेशनिज्म उत्तर आभासिक चित्रकला के नाम से विख्यात हुई । इसका प्रमुख नेता सेजान था । आभासिक चित्रकारों का कहना था कि वे वस्तुओं को उस प्रकार चित्रित नहीं करना चाहते जैसा उसे लोग चित्र में देखना पसन्द करें बल्कि आभासिक चित्रकार वही रूप चित्रित करता है जैसे उसे वह रूप प्रभावित करता है । परन्तु उत्तर आभासिक चित्रकार इतने से ही सन्तुष्ट न रहे और उन्होंने यह तय किया कि चित्रकार जैसा देखता है वस्तुओं को वैसा ही नहीं चित्रित करेगा, बल्कि जैसा वह वस्तुओं को जानता या समझता है । अर्थात् चित्रकला का रूप अब स्वाभाविक नहीं रहा बल्कि चित्रकार का संसार को देखने तथा समझने का अपना दृष्टिकोण लक्षित होने लगा । जैसे कुछ चित्रकारों ने प्रकृति के रूपों को विभिन्न आकार में घन में देखा और क्यूबिस्ट कला को आरम्भ किया । इस प्रकार की चित्रकला सेजान से प्रारम्भ हुई और पिकासो की चित्रकला में उसका पूर्ण रूप विकसित हुआ । उत्तर आभासिक चित्रकारों का मुख्य प्रयास वस्तुओं के आकार में घनत्व लाना था । इसको 'थ्री डाइमेन्शनल आर्ट" कहते हैं । इसमें चित्र में वस्तुओं की लम्बाई तथा चौड़ाई के साथ-साथ मोटाई या गहराई को भी चित्रित करने का प्रयास हुआ । उन्नीसवीं शताब्दी की चित्र-कला केवल

"टू डाइमेंशनल" थी अर्थात् चित्रमें केवल वस्तुओं की लम्बाई और चौडाई ही चित्रित हो पाती थी। चित्रकारो ने अपने चित्रो में चित्रित वस्तुओ की मूर्तिकला से तुलना की जिसमें उन्हें अपने चित्रो की वस्तुओ तथा आकारो में मोटाई तथा गहराई की कमी मालूम पडी। इसी को पूरा करना उत्तर आभासिक चित्रकार का मुख्य लक्ष्य रहा।

भारतवर्ष में भी इस प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ, यद्यपि इस शैली के उच्च कोटि के चित्रकार एक भी दृष्टिगोचर नही होते। जार्ज कीट के कुछ चित्रो में यह प्रवृत्ति भली-भाँति आभासित होती है। सुधीर खास्तगीर की कला का तो यही आधार बन गया है।

वैज्ञानिक प्रवृत्ति

चित्रकला का सम्बन्ध विज्ञान से भी हो सकता है, ऐसा कदाचित् चित्रकारों ने कभी सुनने को नही मिला । विज्ञान और चित्रकला दोनो एक-दूसरे से सदैव दूर रखे गये हैं । विज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है और चित्रकला (कला) का सम्बन्ध हृदय से है । इसीलिए इन दोनो को सदा लोगो ने एक-दूसरे से पृथक् ही रखा । जो व्यक्ति वैज्ञानिक अन्वेषण में लगे है, उन्हें लोग कलाक्षेत्र से परे और हृदय के गुणो से अनभिज्ञ समझते है । वैज्ञानिकों में मस्तिष्क के गुण दिखाई पडते है, तो कलाकारो में हृदय के गुण ।

वैज्ञानिक का कार्य सृष्टि के मूलो को समझना है और चित्रकार या कलाकार सृष्टिकारक समझा जाता है । यदि यह तथ्य सत्य है तो भी यह समझ में नही आता कि बिना सृष्टि के सिद्धान्तो को समझे कोई सृष्टि कर ही कैसे सकता है । सृष्टि करने के पूर्व सृष्टि के मूलो को समझना अत्यन्त आवश्यक है और यदि चित्रकार अपने को सृष्टिकारक समझता है, तो उसके लिए सृष्टि के मूल सिद्धान्तो का अन्वेषण उतना ही आवश्यक है जितना वैज्ञानिक के लिए । इसलिए यह निर्विवाद सिद्ध है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण रहित कोई चित्रकार सृजनकार या कलाकार नही बन सकता । इस प्रकार वैज्ञानिक भी एक कलाकार है, और कलाकार के लिए वैज्ञानिक होना भी आवश्यक है । यूरोप के विख्यात चित्रकार लियोनार्डो दा विन्शी का नाम किसने नही सुना होगा । अपने समय में (१५वी शताब्दी मे) जब कि विज्ञान का आरम्भ था और वायुयान, जलपोत, रेडियो एव आधुनिक यन्त्रो तथा युद्ध सामग्रियो की उत्पत्ति नही हो सकी थी, चित्रकार होते हुए भी उसने ऐसे यन्त्रों, मशीनों, शस्त्रो के चित्र बनाये जिनको देखकर आज के वैज्ञानिक भी दाँतो तले उँगली दबाते है । वायुयान की कल्पना लियोनार्डो ने अपने चित्रो में की । तत्पश्चात् वायुयान बने । वायुयान बनाते समय वैज्ञानिको को लियोनार्डो के इन चित्रो को भी देखना पडा होगा । आज यदि लियोनार्डो को ससार सर्वश्रेष्ठ चित्रकारो में स्थान देता है तो उसको एक महान् वैज्ञानिक भी समझता है । लियोनार्डो स्वय कहता था कि वह चित्रकार ही नही हो सकता जो विज्ञान और गणितशास्त्र का ज्ञाता न हो ।

भारतवर्ष में चित्रकला और अनेको कलाओ का स्वर्ण-युग इतिहास में मिलता है और आज भी उस समय की कलाओ के कुछ अद्भुत नमूने देखने को मिलते है। उत्तर में ताज-महल ससार का सर्वश्रेष्ठ स्थापत्य है। उसे कौन एक महान् कलाकृति नही समझता, जिसके आगे आज के वैज्ञानिक और इजीनियरो की वुद्धि ठप्प हो जाती है ? आज के वैज्ञानिक तथा इजीनियर उसे केवल कलाकृति ही नही, अपितु उसकी सृष्टि करनेवाले को महान् वैज्ञानिक तथा इजीनियर भी समझते है। दक्षिण भारत में सैकडो कलापूर्ण मन्दिर आज भी अपनी शोभा से दर्शको के चित्त चुरा रहे है। उन वैज्ञानिक मूलो और आधारो का, जिनपर इन महान् स्थापत्यो की सृष्टि हुई है, आज का वैज्ञानिक तथा इजीनियर लोहा मानता है। इन मन्दिरो के रूप और उनकी अलकरण-व्यवस्था, मूर्तिकला और चित्रकला को देखकर आज का चित्रकार अवाक् रह जाता है। इसका कारण यही है कि उस समय के कलाकार केवल कलाकार ही नही, अपितु विज्ञान, गणित शास्त्रादि के भी पण्डित थे।

गोविन्दकृष्ण पिल्लई ने अपनी पुस्तक 'शिल्पियो की जीवन-पद्धति' के आरम्भ में ही लिखा है कि "अतीत में जव कला और हस्तकौशल में कोई भेद न था और कलाकार अथवा शिल्पी एक ही व्यक्ति होता था, तव हिन्दू कलाकार, स्थापत्य और मूर्तिकार तीनो के लिए 'शिल्पी' शब्द का व्यवहार करते थे। इन तीनो का गणित और ज्योतिष जैसे विपयो पर अधिकार होता था। वे शिल्पी कला तथा विज्ञान दोनो के पण्डित होते थे। शिल्प-शास्त्र में कला तथा विद्वत्ता दोनो का ही समावेश है। शिल्पशास्त्र के रचयिता भगवान् शिव माने गये है जो ससार के सर्वश्रेष्ठ रचयिता है, अथवा विश्वकर्मा, जो संसार की समस्त कल्पनाओ तथा विज्ञान के पण्डित है।"

अजता और बाघ आदि की चित्रकला अति प्राचीन होते हुए भी देखने में अभी कल की-सी जान पडती है। अजता के चित्रकार कितने महान् वैज्ञानिक रहे होगे, जिन्होने ऐसे रंगो तथा सामग्रियो से अपनी रचना की थी कि वह आज भी नूतन रूप लिये सुरक्षित है, उनके रंग फीके नही पड सके। यही नही, उनके चित्रो के मूल में कितना विज्ञान भरा पडा है, जिसे समझने के लिए हम कभी प्रयत्नशील नही हुए। उनके रगो का सिद्धान्त, उनके आकारो तथा निर्माण के सिद्धान्त कितने वैज्ञानिक थे, अभी हमने अपनी दृष्टि इस ओर नही दौड़ायी। यह एक दु ख का विषय है कि उनके सिद्धान्तो के प्रति किसी प्रकार का भी प्राचीन लेख अप्राप्य है और अन्वेषको ने उस ओर कोई लक्ष्य नही किया है।

जिस समय यूनान और रोम विलासिता के झझावात से प्रताडित होकर अपनी समाधि में सो रहे थे, उस समय पराक्रमी गुप्त सम्राटो का आश्रय पाकर भारतीय कला अनेक रूप धारण करके हमारे स्वर्णयुग की रचना कर रही थी। अमर कवियो की लेखनियाँ अमर

वाणी में विश्वविश्रुत अमर काव्यों की रचना करने लगी। सरस्वती की गाथा हुई गंगा भारत-सम्राटों की उँगलियो में अकृत होने लगी। अनेक शिल्पी अजन्ता और एलोरा की निर्जीव शैल-कन्दराओ में छेनी और तूलिका के सहारे उस स्वर्ण-युग का इतिहास लिखने लगे। हमारी वेश-भूषा, चाल-ढाल, रहन-सहन सबका चित्रमय इतिहास लेकर वे पहाड़ियाँ अटल होकर खडी रही और उन कठोर दस्युओ के हाथो में न पडने पायी जिन्होने अनेक बार भारत के अर्थ-गौरव के साथ उसके कला-वैभव पर भी छापा मारा है।

अजन्ता के चित्र तत्कालीन समाज के ही साक्षी नही है, वरन् भारतीयो की कलानिपुणता के भी द्योतक है। ब्रह्मा की कला उनके आगे पानी भरती है। उँगलियो की अगणित मुद्राएँ, मनुष्य-शरीर की कोमल भाव-भगिमाएँ अद्भुत और अनन्य केशपाश, पुरुषो और स्त्रियो के अगणित हाव-भाव, शोभा के अनन्त साधन, राजश्री ऐश्वर्य के अपरिमित ठाट-बाट—यो कहिए कि अजन्ता की चित्रशाला गुप्त साम्राज्य के अखिल सौन्दर्य, निस्सीम विलास तथा अपार गुणराशि का सजीव मूर्तिमान् कौतुकालय है। रत्नाकर की सम्पूर्ण रत्नराशि उसके आगे झख मारती है। कमल की रमणीयता उसके सौन्दर्य का लोहा मानती है। अजन्ता की गुफाओ को देखकर एकबारगी प्राचीन गौरव मस्तिष्क मे घूम जाता है और यह समझने में तनिक भी विलम्ब नही लगता कि अब हम कितने तुच्छ है, दीन है कगाल है।

इन्ही कन्दराओ में से सत्रह सख्यक कन्दरा की एक भीत पर किसी कुशल चित्रकार की सिद्ध तूलिका का ललिततम विन्यास सहसा नेत्रो को आकृष्ट कर लेता है। इस चिन्ता-कुल राजकुमारी के चित्र को विदेशी कला-शास्त्रियो ने भूल से मरणासन्न राजकन्या की सज्ञा देते हुए कहा है कि राजकन्या की झुकी हुई आँखो में सासारिक दृष्टि समाप्त हो चुकी है, प्यार भरी अन्तिम विदा के रूप में उसकी उँगलियाँ पास बैठी हुई कन्या के हाथ पर टिक गयी है और वह कन्या आशका, अविश्वास तथा जिज्ञासा के मिश्रित भावो से व्यग्र होकर व्यर्थ ही उस हृदय-विदारक विपत्ति का फल जानने को उत्सुक है। अन्तिम बार झुके हुए अग मृत्यु की विजय की घोषणा कर देते है और वह अवर्णनीय दुःख चारो ओर बैठी हुई सेविकाओ के मुखो पर व्यक्त भावो से और भी स्पष्ट होकर प्रतिबिम्बित होने लगता है।

इस चित्र के विषय में ग्रिफिथ महोदय ने ठीक ही कहा है कि—"करुणा और मनोवेग तथा अपनी कथा कहने की निर्भ्रान्त शैली की दृष्टि से यह चित्र कला के इतिहास में अप्रतिम है। सम्भव है फ्लोरेटाइन वाले इसमें सुन्दरतर रेखाएँ डाल देते और वेनिसवाले भव्यतर रग भर देते, किन्तु उनमें से कोई भी इससे सुन्दर भाव नही भर सकता था।

आधुनिक भारत की चित्रकला अन्धकार में है । कुछ दिनो तक चित्रकारो ने अजता, राजपूत और मुगल-चित्रकला को आधार मानकर कार्य किया । टैगोर स्कूल ने अपना सम्पूर्ण समय इसी में व्यतीत किया, पर यह ज्ञात न हो सका कि किन वैज्ञानिक आधारो पर ये चित्र निर्मित है । वैज्ञानिक की भाँति चित्रकार इन आधारो का निरूपण न कर सके, जिससे वगाल विद्यालय या टैगोर विद्यालय की आधार-शिला दृढ न हो सकी और वह नन्दलाल वसु तथा क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार ऐसे चित्रकारो के होते हुए भी अग्रसर नही हो पा रहा है, न आज के चित्रकारो का एक निश्चित पथ-प्रदर्शन ही कर पा रहा है । अनेको चित्रकार आगे आ रहे है, पर कोई भी निश्चित मार्ग नही अपना रहा है । भारत की आधुनिक कला केवल एक उलझनमात्र-सी सिद्ध होती जा रही है । या तो चित्रकार यूरोप की आधुनिक कला का अधाधुन्ध अनुकरण कर रहे है अथवा झूठ-मूठ प्राचीन चित्रकला के अनुयायी होने का दभ भर रहे है । तात्पर्य यह कि कला का रूप विकृत हो गया है ।

वीसवी शताब्दी एक वैज्ञानिक युग है । आज के शिक्षित भारतीय चित्रकार युग से प्रभावित हो चुके है और अधकार से वाहर निकलने के लिए व्याकुल हो उठे है । आशा है, शीघ्र ही उनको सत्पथ का दर्शन होगा और वे अपने उद्देश्य में सफल होगे । इस समय उन पर सवसे वडा उत्तरदायित्व अन्वेषण का है । उन्हें अपनी प्राचीन भूली हुई कला के आधारो, मूलो को खोज निकालना होगा और उसी पर अपनी कला की आधार-शिला स्थापित करनी होगी ।

सगीत और चित्रकला में आन्तरिक एकता और समानता है । आज भी भारतीय सगीत अपना एक उच्च स्थान वनाये हुए है । इसका कारण सम्भवत यही है कि वह अब भी अपने प्राचीन आधारो पर स्थित है और वैज्ञानिक ढग पर आगे वढ रहा है । संगीत-कला के विपय में प्राचीन प्रमाण भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त है और उनकी प्राचीन परम्परा जीवित है । यदि हम चित्रकला के वैज्ञानिक आधारो का अन्वेषण नही कर पाते है तो हमें सगीत-कला के विज्ञान से चित्रकला की तुलना कर सहायता लेनी होगी ।

सगीतकला में जिस प्रकार स्वरो का एक विज्ञान और गणित होता है, उसी भाँति चित्रकला की भापा, रग तथा रूप का भी एक विज्ञान और गणित होना चाहिए । सगीतमें जैसे स्वरो के निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रभावो का निरूपण है, उसी प्रकार हमें रग और रूप के निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रभावो को ढूँढना तथा निश्चित करना पडेगा । इस प्रकार चित्रकला के सभी आधार वैज्ञानिक हो जायँगे और उसमें एक अद्भुत शक्ति उत्पन्न हो जायेगी जिससे चित्रकला समाज की सेवा करते हुए देश के सास्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने में भी

समर्थ होगी । परन्तु यह तभी सभव हो सकता है, जब हम उसके अन्वेषण का पूर्ण निश्चित मार्ग स्थिर कर लें । चित्रकला के मुख्य अंग है रूप, रग, रेखा और इन सब का सयोजन । इनमें प्रत्येक का भिन्न-भिन्न प्रभाव पडता है । लाल रग का उष्ण प्रभाव पडता है, तो हरे रग का शीतल । पडी रेखा मन को शान्ति तथा निश्चलता प्रदान करती है, तो खडी और तिरछी रेखाएँ मन को ऊपर की ओर अग्रसर करती और चचलता प्रदान करती है । लघु रूपों को देखकर वस्तुओं की दुर्बलता प्रतीत होती है । बडे रूपो तथा वृहद् आकारों को देखकर दृढता, शक्ति तथा महानता का बोध होता है, जैसे कि हिमालय पर्वत को देखकर । सरल सयोजन का मन पर सीधा तथा सुहावना प्रभाव होता है तो जटिल सयोजन मन को जटिलता (उलझन) में डाल देता है । नदी को देख कर चचलता, ओछापन प्रतीत होता है, तो सागर को देखकर गहराई और महानता । इसी प्रकार सृष्टि के प्रत्येक रूप का विभिन्न प्रभाव पडता है । इन्ही प्रभावो को वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक ढग से खोज निकालना और उनका अपने चित्रो में उपयोग करना भावी चित्रकार के अनुसधान तथा रचना का कार्य होगा । इसी को सत्य कहते है और कला में "सत्यं, शिवम्, सुन्दरम्" का तात्पर्य भी यही है । यही सृष्टि का आधार है, इसको खोज निकालना कलाकार का कर्तव्य है और इसके अनुसार सृष्टि करना उसका लक्ष्य है ।

यहाँ अन्य वैज्ञानिक सिद्धान्तो का भी उल्लेख करना आवश्यक जान पडता है जिनसे हमारे कथन की पुष्टि होगी । इसमें सदेह नही कि चित्रकारो की सफलता वैज्ञानिक तथ्यो के मूल में है । ससार के अन्य विज्ञानो में आज इतना चमत्कार क्यो है ? उदाहरण के लिए ज्योतिष-विज्ञान को लीजिए । ग्रह, नक्षत्र, तारो के विभिन्न रगो के कारण उनके भिन्न-भिन्न प्रभाव आये दिन प्रकट होते जा रहे हैं । रंगो के प्रभाव में एक मनोवैज्ञानिक आधार छिपा है । रगो का प्रभाव कितना व्यापक होता है, इसे हम विभिन्न रगो की पानी से भरी बोतलो से जान सकते हैं । रगीन बोतलो का यही जल कालान्तर में औषध बनकर कितने ही असाध्य रोगो से मुक्ति दिलाता है । क्या यह रगो का प्रत्यक्ष प्रभाव नही है ? रंगों के प्रभाव की व्यापकता का अनुभव जडाऊ अँगूठी से भी सुगमतापूर्वक किया जा सकता है । उदाहरणार्थ नीलम की अँगूठी लीजिए । इसके रंगो का ही यह प्रभाव है कि इसके धारण करने से ग्रहो का शमन होता है ।

रगो के मनोवैज्ञानिक तथ्य का निरूपण एक मेल के दो कमरो से आसानी से हो सकता है । एक कमरा लाल और दूसरा हरे रग का है । दोनों में तापक्रम समान है, फिर भी हरे कमरे में हम शीतलता और लाल कमरे में उष्णता का अनुभव करते है । इस शीतलता हम नेत्र से नही, अपितु स्पर्शमात्र से करते है । इससे सिद्ध होता है कि रगो के

भीतर एक मनोवैज्ञानिक आधार है जिसका सम्बन्ध हमारी दृष्टिचेतना से है । किस विशेष रग का कितना और कैसा प्रभाव है, इसका विश्लेषणात्मक ढंग से पता लगाना ही आधुनिक चित्रकार का मुख्य प्रयोजन होना चाहिए, जिससे वह कला के क्षेत्र में प्रभाववादी क्रान्तिकारी कला के वास्तविक स्वरूप का दर्शन जड़-चेतन सब को समान रूप से करा सके । इस प्रकार वह रंग-रूप के उचित संयोजन से अपनी कलाकृति में यह प्रभाव उत्पन्न कर देगा कि उसे देखते ही दर्शक अपने अन्त करण को उस रंग-रूप से रंग लेगा । दूसरे शब्दो में यह कि चित्रित विषयों के क्रोध, करुणा, शान्ति आदि मनोवेगो का हमारे हृदयपर तत्काल प्रभाव होने लगेगा और कुछ काल के लिए हम आत्मविभोर हो उठेंगे ।

वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भारतीय कलाकारो में स्वर्गीय अमृत शेर गिल, यामिनी राय तथा राचशु के चित्र उल्लेखनीय है ।

अभिव्यंजनात्मक प्रवृत्ति

आधुनिक चित्रकला जो हमारे सम्मुख एक पहेली के रूप में जान पड़ती है, इसका एकमात्र कारण यह है कि हमने अभी यह सोचा ही नही कि इस प्रकार की चित्रकला का आधार क्या है । हम अब तक यही सोचते आये है कि चित्रकला प्रकृति के यथातथ्य स्वरूपो को अंकित करने का एक माध्यम है, या किसी कथा-कहानी को रूप और रगो के माध्यम से वर्णन करना है । ये दोनो ही दृष्टिकोण आधुनिक चित्रकला में नही पाये जाते । हम आधुनिक चित्रकला में इन्हें खोजने का प्रयास करते है, परन्तु परिणाम तक नहीं पहुँचते और वे केवल एक पहेली बनकर रह जाते है । दर्शक इन्हें अपनी योग्यतानुसार समझने का प्रयत्न करता है ।

भारत की प्राचीन चित्रकला अधिकतर वर्णनात्मक शैली के रूप में हमारे सामने आती है । कोई कथा-कहानी या जीवन-चरित्र ले लिया जाता था, जिसके एक दृश्य का वर्णन चित्रकार अपने चित्रो के द्वारा करता था । ब्राह्मण-काल में देवी-देवताओ के चरित्रों का अंकन, बौद्ध तथा जैन चित्रकला में महात्मा बुद्ध तथा महावीर की जीवनियो का आलेखन या उनके बारे में प्रचलित जातक कथाओ इत्यादि का चित्रण करना ही उस समय के चित्र-कारो का मुख्य ध्येय था । मुगल-कला भी फारसी तथा ईरानी कला की भाँति कथाओ के वर्णन करने में ही आगे बढी । बाद में दरबारी चित्रो का अधिक प्रचार हो गया था । राज-पूत-कला भी अधिकतर वर्णनात्मक ढग ही अपनाये रही । आजकल भारत का सम्बन्ध धीरे-धीरे पाश्चात्य देशो से अधिक घनिष्ठ होता जा रहा है । विदेशी प्रगति की प्रतिस्पर्धा में भारत भी अपना कदम आगे रख रहा है । यूरोप में कला, साहित्य तथा विज्ञान में जिन नयी धाराओ का आगमन हो रहा है उनका प्रभाव यहाँ भी भली-भाँति पड रहा है । इसका यह तात्पर्य नही कि यहाँ केवल वहाँ का अन्धाधुन्ध अनुकरण हो रहा है । शायद इस युग का स्पन्दन एक सन्देश है जो प्रत्येक आधुनिक देश में व्याप्त हो रहा है । अस्तु, इसी प्रकार की चेतना का यहाँ भी अनुभव हो रहा है ।

उन्नीसवी शताब्दी को वैज्ञानिक युग कहा गया है और बीसवीं शताब्दी को आधुनिक

विद्वान् मनोवैज्ञानिक युग समझते हैं । इस शताब्दी में जितना प्रादुर्भाव मनोविज्ञान का हुआ है उतना और किसी वस्तु का नही । आज मनोवैज्ञानिक युद्ध हो रहें है, मनोवैज्ञानिक आधार पर साहित्य का निर्माण हो रहा है, मनोवैज्ञानिक ढग से व्यापार हो रहा है, मनोविज्ञान से चिकित्सा हो रही है और नित्यप्रति के व्यवहार की परख भी हम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से कर रहें हैं । आधुनिक शिक्षा का तो मनोविज्ञान आधार ही वन गया हैं । कुछ लोग तो मनोविज्ञान को शिक्षा ही समझते हैं । ऐसी अवस्था में कला भी मनोवैज्ञानिक न हो, यह असंभव है ।

आधुनिक चित्रकला मनोवैज्ञानिक है । चित्रकार मनोवैज्ञानिक ढंग से अपने चित्र वनाता है । मनोविज्ञान वह विद्या है जिसके द्वारा हम यह स्थिर करते हैं कि "ऐसा क्यो होता हैं ? या इस कार्य या व्यवहार का कारण क्या है ? अर्थात् हम यह पहले सोचते हैं कि अमुक कार्य क्यो होता है ? मनुष्य के व्यवहारो का कारण ज्ञात करना, जैसे वह स्वप्न क्यो देखता है, वह अप्रसन्न क्यो होता है, वह धार्मिक क्यो वनता है, वह ज्ञान का उपार्जन क्यों करता है इत्यादि । चित्रकला भी मनुष्य का एक कार्य है । मनोविज्ञान इसका भी उत्तर देता है कि मनुष्य चित्रकला का कार्य क्यो करता है ।

मनोवैज्ञानिको का कहना है कि प्रत्येक मनुष्य में आत्म-अभिव्यक्ति तथा सहज क्रियात्मक वृत्ति अवश्यम्भावी है जो उसकी जन्मजात प्रवृत्ति है और इसी के फलस्वरूप वह रचना भी करता है । मनुष्य जब कोई वस्तु देखता है तो उसके हृदय के भीतर आन्दोलन होता है । उसकी सहज-क्रियात्मक प्रवृत्ति उस अनुभव को व्यक्त करने के लिए उसे प्रेरित करती हैं । इस प्रकार वह अपने चित्र में उन्ही उद्वेगो तथा मनोवेगो की अभिव्यक्ति करना अपना लक्ष्य बनाता है । अर्थात् उसके हृदय में जो हल-चल हुई उसी का प्रतिरूप वाहरी स्वरूपो के आधार पर निर्मित कर उनकी अभिव्यक्ति करता है ।

इस प्रकार एक ही वस्तु को देखकर विभिन्न चित्रकारो में विभिन्न भावनाएँ, मनोवेग या उद्वेग उठ सकते हैं । चाँद को देखकर एक मनुष्य प्रसन्नता का वोध करता है जब वह संयोगावस्था में हो, परन्तु वही चाँद वियोगावस्था में दु खदायी हो सकता है । दोनो व्यक्तियो को वही चाँद भिन्न-भिन्न उद्वेग प्रदान करता है । अर्थात् चाँद से अधिक महत्त्वपूर्ण उन दोनो व्यक्तियो की अपनी-अपनी मानसिक अवस्थाएँ है । इस प्रकार यदि दो चित्रकार चाँद को चित्रांकित करें तो उनका दृष्टिकोण उसे व्यक्त करने का भिन्न-भिन्न होगा । अर्थात् वाहरी वस्तु से अधिक महत्त्वपूर्ण मनुष्य के मन में छिपी भावना है। यही कारण है कि विविध भावनाओ के कारण विविध प्रकार के चित्रकार है और उनकी विविध शैलियाँ हैं ।

आधुनिक चित्रकार जब किसी प्रभावोत्पादक वस्तु या दृश्य को देखता है, तो उसके मन में हिलोरें उठने लगती हैं। वह उस वस्तु या दृश्य के प्राकृतिक बाह्य रूप को भूल जाता है और उसी तरंग के आधार पर उस वस्तु का एक परिमार्जित रूप देखता है। यही परि-मार्जित रूप उसकी चित्रकला में आ जाता है। यह उस बाह्य वस्तु या दृश्य का प्राकृतिक रूप नहीं होता, वस्तुतः चित्रकार ने उसे जिस रूप में देखा उसका प्रतीक होता है। ऐसा भी हो सकता है कि जो वस्तु उसकी इस तरंग का कारण हो, वह चित्र में बिल्कुल गौण हो जाय या एक विकृत रूप में दूसरों को दिखाई दे। ऐसी स्थिति में यदि कोई उस रूप की उसके प्राकृतिक रूप से तुलना करे तो बिल्कुल निरर्थक होगा। परन्तु कलाकार द्वारा निर्मित यह रूप एक सामाजिक रूप होगा, ऐसा भी कहना कठिन है। वहाँ दर्शक को उसी उमंग, तरंग या मनोवेग से उसका आनन्द लेना होगा जिन मनोवेगों की अन्तर्दशाओं से होकर चित्रकार हमारे सामने आया है, और यह तभी हो सकता है जब दर्शक चित्रकार के साथ तथा उसके चित्र के साथ सहानुभूति रखे, उसके हृदय से एकता स्थापित करे। यदि हम ऐसा नहीं करते और केवल वस्तुओं के बाह्य प्राकृतिक रूप तक ही अपने को सीमित रखें तो हमारे लिए यह चित्र वही पहेली की पहेली बने रह जायेंगे।

उपर्युक्त कथन के आधार पर ही, आधुनिक चित्रकला की एक प्रबल शैली प्रचलित हो रही है और इसी को आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकला कहते हैं। आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकला प्रकृति के बाह्य रूप या इन्हीं रूपों पर आधारित किसी सूक्ष्म धारणा को चित्रित न कर चित्रकार के मनोभाव की अभिव्यक्ति करती है। यह शैली स्वभावतः व्यक्तिगत है और यह किसी समय या देश की परिधि में बाँधी नहीं जा सकती। इस प्रकार की चित्रकला अफ्रिका निवासियों की नीग्रो कला तथा प्राचीन प्रागैतिहासिक पाषाण-युग की भारतीय कला में भी पायी जाती है। मोहनजोदड़ो तथा हरप्पा की कला भी इसी प्रकार की थी। आधुनिक यूरोप में इस कला का आज अत्यधिक प्रचार है और फ्रान्सीसी चित्रकार वान-गाग से इसका प्रारम्भ माना जाता है।

भारतीय आधुनिक कलाकारों में इस प्रकार की चित्रांकन प्रवृत्ति हमें सर्वप्रथम स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा स्व० गगनेन्द्रनाथ की कृतियों में दिखाई देती है। आज ऐसे अनेकों चित्रकार सामने आ गये हैं जिनके चित्रांकन की आधार भित्ति इन्हीं भावनाओं के मसाले से बनी है। इस दृष्टि से आधुनिक चित्रकारों में बेन्द्रे, हुसैन तथा रायबा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

स्वप्निल प्रवृत्ति

आज का मनोवैज्ञानिक युग स्वप्न सम्बन्धी अन्वेषणो में सतत् प्रयत्नशील है । पाश्चात्य विद्वान् फ्रायड तथा युग ने स्वप्न की बड़ी महत्ता बतायी है और उसका खूब प्रचार किया है। भारतवर्ष में भी सदियो से जीवन में स्वप्न का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । आधुनिक विद्वान् स्वप्न को समझाते हुए कहते है कि जाग्रत या चेतन अवस्था में जो कार्य हम नही कर पाते, उन सुप्त इच्छाओ को हम अपने स्वप्न में पूर्ण करते है । स्वप्न का एक ऐसा प्रदेश है जहाँ कोई सासारिक या सामाजिक बन्धन नही होता; वहाँ हम पूरे स्वतन्त्र होते है । प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र होना चाहती है और जीवन में उसे स्वतंत्रता के स्थान पर परतंत्रता दृष्टि-गोचर होती है । तब स्वप्न ही एक सहारा रह जाता है । वैसे तो कतिपय विद्वान् जीवन को भी स्वप्न समझते है, परन्तु जो स्वतंत्रता हमें स्वप्न में दृष्टिगोचर होती है वह जीवन में प्राप्त नही है । आधुनिक मनोवैज्ञानिक स्वप्न को भी जीवन के अन्तर्गत ही समझते है और स्वप्निल प्रदेश में भी जो कार्य हम करते हैं उसका पूरा उत्तरदायित्व हमारे उपर ही रहता है । वह कार्य भी हमारे अचेतन मस्तिष्क का ही है, और हमारा है ।

आधुनिक चित्रकला में भी स्वप्न का यही स्थान है । परन्तु स्वप्निल चित्रकला का अर्थ यह नही कि हम सोये हुए अचेतन अवस्था में जो चित्रकला करे वही स्वप्निल चित्रकला होगी । स्वप्निल चित्रकला का तात्पर्य यह है कि जाग्रत अवस्था में भी चित्र निर्माण करते समय चित्रकार इतनी अधिक स्वतंत्रता का आभास करे जितना वह सोकर अचेतन अवस्था में स्वप्न में करता है, और इसी अवस्था में कला की रचना करे । आधुनिक चित्रकला की सबसे बडी विशेषता उसकी पूर्ण स्वतंत्रता ही है । स्वतत्र होने की भावना चित्रकार में सबसे पहले होती है, क्योकि मनुष्य की कल्पना पूर्ण स्वतंत्र है । कल्पना कला का आधार है और स्वप्न भी अचेतन अवस्था की कल्पना है । इसलिए जिस तरह चित्रकार को कल्पना प्रिय है, उसी भाँति स्वप्न की कल्पना भी ।

प्राचीन काल में साहित्य में स्वप्न का बड़ा महत्त्व था । पुराणो तथा जातककथा-कहा-नियो में भी स्वप्न के ही ऊपर कल्पना रहती थी । चित्रकला में भी स्वप्न के चित्र मिलते

है, जैसे गौतम बुद्ध की माता महामाया का स्वप्न, जिसमें उन्होंने एक श्वेत हाथी [illegible] गौतम के रूप में जन्म लेते हुए अपने यहाँ देखा । यह चित्र [illegible] भी है । परन्तु प्राचीन कला में अधिकतर स्वप्नों का वर्णनात्मक रूप ही मिलता है । आधुनिक कला में चित्रकार किसी स्वप्न का वर्णन नहीं करता, प्रत्युत [illegible] मनःस्थिति को ही वह उस अवस्था में पहुँचाता है जैसी स्थिति स्वप्न आने के समय होती [illegible] उसी अवस्था में वह तत्पर हो चित्रांकन करता है । ये चित्र [illegible] मनःस्थिति [illegible] होते हैं । इन चित्रों में साधारण चित्रों की अपेक्षा बुद्धिजनक, विवेकपूर्ण [illegible] रहता है अर्थात् साधारण मानसिक ज्ञान के विपरीत ही इसमें चित्रण मिलता है । इस प्रकार के विवेकहीन असाधारण चित्रों का प्रादुर्भाव जितना इस शताब्दी में हुआ है [illegible] पहले कभी नहीं हुआ । हम इस चित्रकला को विवेकहीन समझकर [illegible] नहीं [illegible] क्योंकि आधुनिक बुद्धिवादी वैज्ञानिक युग ने ऐटम, विस्फोटक बम तथा सृष्टि-विध्वंसक यंत्र और शस्त्र बना डाले हैं । इस प्रकार के बुद्धिवादी विज्ञान से बचने का एक [illegible] स्वप्निल चित्रकला भी है ।

भारतवर्ष में इस प्रकार की स्वप्निल चित्रकला की शैली का आरम्भ श्री गगनेन्द्रनाथ ठाकुर से होता है । यद्यपि आरम्भ में बहुत थोड़े से चित्रकारों ने इस शैली को अपनाया, क्योंकि उसी समय डा० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने बंगाल में एक भिन्न ही प्रकार की शैली का प्रचार बड़े वेग से आरम्भ कर दिया था, गगनेन्द्रनाथ ठाकुर की कला का अधिक प्रचार न हो पाया और शायद उन्होंने इसके लिए प्रयत्न भी अधिक नहीं किया, परन्तु आज इस शैली से प्रभावित अनेकों नवयुवक कलाकार सामने आ रहे हैं । बंगाल के [illegible] के जार्ज कीट, प्रयाग के रवी देव तथा काशी के रामगु इत्यादि इस क्षेत्र में [illegible] चुके हैं । डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भी बहुत से चित्र इसी भावना से प्रभावित [illegible] । गगेन्द्रनाथ ठाकुर की 'श्वेत' नौका', कल्याण सेन का "स्वप्न [illegible]" [illegible] के नेत्र' उल्लेखनीय हैं ।

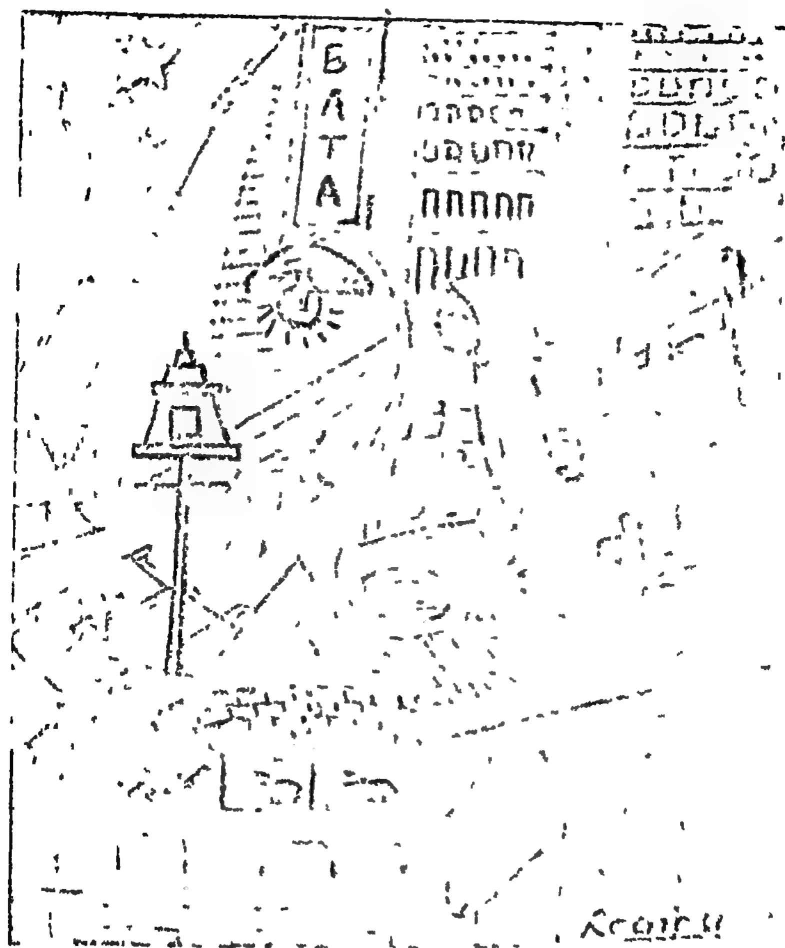
स्वप्नगत चित्रांकन करनेवाले चित्रकार अपने सामने चित्र बनाने की [illegible] लेकर शान्तचित्त बैठ जाते हैं और उमंग के झोंक में वे चित्रांकन आरम्भ कर देते हैं । [illegible] तूलिका विद्युद्गति से चलती रहती है जब तक कि चित्र [illegible] तैयार नहीं हो जाता । [illegible] चित्रों के बनाने में समय भी अधिक देना आवश्यक नहीं है । [illegible] वह अपने चित्र में क्या बनाने जा रहा है । तूलिका चलती जाती है और [illegible] चित्र में बनते जाते हैं । चित्रकार स्वयं यह नहीं सोचता कि [illegible] बनाये । वह एक बनाता है, दूसरा अपने आप आरम्भ हो जाता है । [illegible]

पड़ता कि वह किस स्थान पर कौन सा रग लगाये । यह कार्य भी अपने आप ही होता है । उधर उमंग की समाप्ति होते-होते वह काम रोक देता है । इधर चित्र तैयार हो गया । ऐसे चित्र देखने पर चित्रकार स्वयं आश्चर्य में पड़ जाता है कि उसने यह सब क्या बनाया और क्यो बनाया । इस प्रकार के चित्रो की प्रेरणा कहाँ से आयी, स्वय चित्रकार भी यह नही सोच पाता ।

ऐसे चित्रो में जो रूप होते है कभी-कभी उनमें एक दूसरे से अधिक सम्बद्ध भी नही होते, एक ही चित्र में बिलकुल भिन्न-भिन्न एक दूसरे से कोई सम्बन्ध न रखनेवाले रूप होते है । जैसे चित्रकार ने मनुष्य का मुख बनाते-बनाते, धीरे-धीरे ग्रीवा तक आते-आते एक चर्खा बना डाला, चर्खे का डोरा बनाते-बनाते एक कुर्सी बन गयी; जिसका पूरा रूप बन भी नही पाया था कि उसकी एक टांग ने चिड़िया का रूप धारण कर लिया, और चिड़िया का सिर मोटर का एक टायर बन गया । इस प्रकार चित्रकार अपने को एक प्रकार का रेडियो यत्र बना लेता है । कही से आवाज हुई वह बोलने लगा । अर्थात् चित्रकार का हाथ एक मशीन की भाँति कार्य करता है, उसका मन या मस्तिष्क भी एक मशीन की भाँति कार्य करता है । मनोविज्ञान इस बात की पुष्टि करता है कि यदि हम अपने भावो को विवेक के साथ एकाग्र करना छोड़ दें तो उस मस्तिष्क पर चलचित्र की भाँति क्षण-क्षण पर विभिन्न रूप में तीव्र गति से विचार तथा रूप आते-जाते हैं । इस प्रकार यदि हम इन चित्रो की चलचित्रो से तुलना करे तो गलत न होगा । वैसे तो चलचित्रो में विवेक होता है, पर यहाँ तुलना केवल गति से की जा रही है । इस प्रकार के चित्रो में चित्रकार बड़ी सरलता से वर्त्तमान समाज, इसका विकृत रूप तथा अपने मन में उठी प्रतिक्रियाओ का सुन्दर चित्र बना पाता है । सचमुच ऐसे चित्रो का मूल्य आज के समाज में बहुत अधिक है जबकि मनुष्य बाहर से कुछ और तथा भीतर कुछ और है । चित्रकार अपने चित्रो के द्वारा भीतर और बाहर को एक कर देना चाहता है । यही है स्वप्निल चित्रकला का उद्देश्य ।

इन चित्रो में रूप प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक होते है । ऐसे चित्रो का आनन्द इन प्रतीको तथा लक्षणाओ को समझने पर ही मिल सकता है । इनका मनोवैज्ञानिक निरूपण आवश्यक है ।

अति यथार्थवादी चित्र



प्रगतिशील ससार ?

काल्पनिक प्रवृत्ति

कल्पना कला की सृष्टि का आधार है। कला की रचना विना कल्पना के सभव ही
हीं है। फिर तो हम कह सकते हैं कि सभी कला की शैलियाँ काल्पनिक होनी हैं और इसके
तिरिक्त कोई दूसरी शैली नही हो सकती। आलकारिक चित्रकला, विषय-प्रधान चित्र-
ला या सूक्ष्म चित्रकला सभी में कल्पना की आवश्यकता है। इसलिए सभी चित्रकलाएँ
ाल्पनिक हैं। इस प्रकार काल्पनिक चित्रकला को हम कोई विशिष्ट शैली नही कह सकते।
रन्तु सुविधा के लिए आधुनिक युग के विभिन्न बहुमुखी चित्रकारो की कृतियो का
ल्याकन कर सकने के हेतु हमें उनके चित्रो को विभिन्न कोटि में रखना ही पड़ता है, और
नका नामकरण करना पड़ता है।

काल्पनिक चित्रकला से हमारा तात्पर्य आधुनिक चित्रकला की उस शैली से है जिसमें
त्रकार प्रकृति की वस्तुओ का आँखो देखा वर्णन नही करता बल्कि कल्पना के आधार पर
क नये ससार की सृष्टि करता है। यह नया संसार, कलाकार का अपना ससार है, अर्थात्
नुभव, कल्पना, तथा रुचि के अनुसार ही वह प्रकृति की वस्तुओ मे परिवर्तन करता है या
न्हे परिमार्जित करता है, जैसे मनुष्य की स्वर्ग की कल्पना या चन्द्रलोक की कल्पना इत्यादि।
नुष्य ने स्वर्गलोक देखा नही, चन्द्रलोक सचमुच कोई लोक होगा, जानता नही, पर वहाँ
सा लोक होना चाहिए इसकी कल्पना करता है। एक शराबी यदि चन्द्रलोक की कल्पना
रे तो वह उसे एक मधुशाला का रूप देगा और हाला, प्याला तथा साकी ही उसे घूमते
रते कल्पना में दृष्टिगोचर होंगे। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार
लोको की विभिन्न कल्पना करेगा। यह कल्पना उसकी इच्छा का एक वाह्य रूप है।

इसी प्रकार चित्रकार भी स्वर्गलोक, स्वप्नलोक, या चन्द्रलोक की कल्पना कर सकता
। इसी के आधार पर वह चित्र बनाता है। शराबी की कल्पना की अपेक्षा चित्रकार की
ल्पना क्रियात्मक होती है या उसे हम निर्माणकारी कल्पना कह सकते हैं। मान लीजिए,
ह चन्द्रलोक की कल्पना करता है, इसका यह तात्पर्य नही कि जिन वस्तुओ को इस लोक मे
ह देखता है या पसन्द करता है उन्ही को अधिक मात्रा में वह चन्द्रलोक में चित्रित करेगा।

ऐसा भी हो सकता है, परन्तु चित्रकार केवल यही नही करता । वह इस लोक की सुन्द वस्तुओं का या रुचिकर वस्तुओ का ज्ञान तो रखता है, परन्तु उन्हें ही वह चित्र में वैसे व वैसा नही रखता । प्रकृति की प्रत्येक वस्तु के रूप को वह वैसे का वैसा ही पसन्द नहीं करता प्रत्युत अपनी कल्पना को उन वस्तुओ पर दौडाता है और सोचता है कि यह रूप कैसा होत कि उसे और अधिक पसन्द आता । अर्थात् वह प्रकृति के रूपो को अपनी कल्पना और रुचि के अनुसार परिमार्जित कर और अधिक सुन्दर बनाना चाहता है । अथवा उसके मस्तिष्क में पहले एक भाव या विचार आता है । उसी विचार के आधार पर वह प्रकृति के रूप को परिवर्तित करना चाहता है । वह एक अपना आदर्श बनाता है और उसी दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु को देखता है । इसीलिए इस प्रकार की चित्रकला को आदर्शवादी भी कह सकते है । अन्य कला-आलोचको ने इस प्रकार की कला को आदर्शवादी ही कहा है । समस्त प्राचीन भारतीय चित्रकला इसी नाम से सम्बोधित की जाती है ।

आधुनिक चित्रकला में उपर्युक्त विचार भी काल्पनिक चित्रो की कोटि में आते है,परन्तु आज इस विचार का एक परिमार्जित रूप ही काल्पनिक चित्रकला के नामसे सम्बोधित किया जाता है । काल्पनिक चित्रो में केवल प्रकृति के रूपो का परिमार्जन ही नही होता, बल्कि कल्पना के आधार पर नये रूपो तथा वस्तुओ का निर्माण किया जाता है । विश्वविख्यात चित्रकार लियोनार्डो, दा विंशी ने अपने चित्रो में कुछ ऐसे जानवरो, पशु-पक्षियो का चित्र अपनी कल्पना से बनाया है जैसे प्रकृति में नही मिलते । प्राचीन भारतीय चित्रकारो ने भी नरसिंह, गणेश और इसी प्रकार के अनेक नये रूपो (देवी-देवताओ, अवतारो) की कल्पनाएँ की थी जो प्रकृति में नही मिलते । परन्तु आधुनिक चित्रकार इतने से सन्तुष्ट नही होते, वे केवल नये रूप ही नही बनाते बल्कि उसी प्रकार के नये रूपो से अपने सम्पूर्ण चित्रका विलक्षण सयोजन करते है ।

काल्पनिक चित्रकार यह भी आवश्यक नही समझता कि जो रूप वह बनाये वह प्रकृति के विभिन्न रूपो का सम्मिश्रण हो, जैसे—नरसिंह या गणेश का रूप । नरसिंह के रूप में सिर सिंह का, शरीर मनुष्य का है, उसी प्रकार गणेश का सिर हाथी का, शरीर मनुष्य का । इस प्रकार के संयोजन में चित्रकार सृष्टि की दो विभिन्न वस्तुओ या रूपो का अपनी कल्पना के आधार पर सम्मिश्रण करता है । परन्तु आधुनिक चित्रकार इतना ही नही करना चाहता, प्रत्युत वह एक अभूतपूर्व जीव या वस्तु कल्पना के सहयोग से बनाना चाहता है । इस कार्य में सफल होने के लिए पहले चित्रकार को प्रकृति के रूपो के मूल को समझना पडता है, वह प्रकृति के रहस्य का भली-भाँति अध्ययन करता है और यह समझने का प्रयत्न करता है कि प्रकृति में रूप किस आधार पर बनते-बिगड़ते हैं । इस सिद्धान्त को समझकर वह स्वयं

उन्हीं सिद्धान्तों पर अपनी कल्पना से नये रूपों को एक नये वातावरण के साथ अपने चित्र में स्थान देता है। प्रकृति के रूप उसकी कला के अंग नहीं होते, प्रत्युत उन्हीं के [illegible] आधार पर वह नव-निर्माण करता है।

इस प्रकार के काल्पनिक चित्रकार भी आधुनिक भारत में हैं, परन्तु अभी इसकी भावना परिपक्व नहीं हो पायी है। बंगाल के कल्याण सेन इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। इनके काल्पनिक चित्रों में चित्रित सभी प्राकृतिक रूप परिवर्तित तथा परिमार्जित हैं, परन्तु प्राकृतिक हैं। इनकी "हाथियों की जल-क्रीडा" इसी प्रकार का काल्पनिक चित्र है। जिस का सम्पूर्ण प्रबन्ध विलक्षण है और मुख्यतः पेड-पौधों के रूप तो इनके बहुत ही मौलिक और निर्माणकारी हैं।

यूरोपीय चित्रकला में ब्लेक तथा रूसो के चित्र भी इसी प्रकार के काल्पनिक चित्र हैं। रूसो का "सँपेरा" और ब्लेक का "नरक के द्वार पर" उल्लेखनीय हैं।

घनत्व-निर्माण की प्रवृत्ति

सन् १९०८ ई० में फ्रासीसी कलाकार पिकासो तथा ब्रेक ने अपने चित्रो के स्वरूपों में आकार तथा घनत्व उत्पन्न करने का प्रयत्न किया और तभी से घनत्ववाद के रूप मे चित्र-कला की एक शैली ही चल पडी । चित्रो में घनत्व उत्पन्न करने का प्रयास यद्यपि पुराना है, परन्तु एक विशेप शैली के रूप में इसका प्रचार बीसवी शताब्दी के आरम्भ में ही हुआ । विश्व-विख्यात इटालियन चित्रकार माइकेल ऐंजेलो ने पन्द्रहवी शताब्दी में ही अपने चित्रों में घनत्व दर्शाने का प्रयत्न किया था और पाश्चात्य कला के इतिहास में वह इस विचार से अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है । इसी प्रकार यदि पूर्वीय देशो की कला में घनत्ववाद खोजा जाय तो उसका रूप डेढ-दो हजार वर्ष की प्राचीन भारतीय कला अजन्ता शैली में भी देखने को मिलता है । सच कहा जाय तो घनत्व उत्पन्न करने की भावना अति प्राचीन है, यद्यपि अधिक सफलता तथा प्रौढता हमें बीसवी शताब्दी में आकर दृष्टिगोचर होती है ।

घनत्ववाद का प्रेरणा-सूत्र भवन-निर्माण कला तथा मूर्तिकला ही है । वहुत से विद्वान् भवन-निर्माण कला तथा मूर्तिकला को चित्रकला की जन्मदात्री मानते हैं, क्योकि चित्रकला से पूर्व ही इन दोनो कलाओ का विकास हुआ है । चित्रकला बाद में आयी । आरम्भ में चित्र-कला कोई अलग वस्तु नही थी, वल्कि भवन-निर्माण कला,मूर्तिकला या वास्तुकला की एक अंग ही थी । आगे चलकर क्रमश. चित्र-रचना एक अलग कला के रूप में अपना स्थान लेती है, और इसका विकास अपने ढग पर होता है । प्राचीन समय में चित्रकार या कलाकार के स्थान पर शिल्पी शव्द का प्रयोग होता था । शिल्पी वास्तुकला, मूर्तिकला, तथा चित्र-कला सभी का ज्ञाता होता था । इतना ही नही वल्कि अन्य सामाजिक विद्याओ से तथा सिद्धान्तो से भी पूर्ण परिचित होता था । ऐसे ही शिल्पी चित्रकार भी होते थे । मूर्तिकला तथा वास्तुकला में घनत्व होता है, और इसको ध्यान में रखकर ही रचना की जाती है । यही कारण है कि आरम्भ से ही कलाकारो को चित्र में घनत्व उत्पन्न करने की भावना होती रही है यद्यपि भित्ति-चित्र या कागज पर यह उत्पन्न करना वडा कठिन था, परन्तु इस ओर प्राचीन समय से ही प्रयास हुआ है ।

मूर्ति में सुडौल आकार होता है । उसमें लम्वाई, चौडाई तथा मोटाई (घनत्व) भी

होती है। मूर्ति को चारो ओर से घूम फिर कर देख सकते हैं। [illegible] हम देख सकते हैं। जिस प्रकार शरीर के मास में गठन होता है [illegible] की मूर्ति में भी बनायी जाती है, क्योंकि पत्थर, मिट्टी या धातु में [illegible] प्रकार उसका प्रयोग हो सकता है, परन्तु दीवाल की चपटी सतह पर, [illegible] चपटे धरातल पर रग से लगाकर घनत्व नहीं निर्मित किया जा सकता, जिस प्रकार [illegible] मिट्टी या धातु से हो सकता है। पत्थर, मिट्टी या मोम की मूर्ति बनाकर उसमें [illegible] जैसा रग देकर ऐसी रचना भी की जा सकती है जो मनुष्य की आँखों को धोखे में [illegible]। यह प्रतिमा बाह्य रूप में मनुष्य की हूबहू नकल हो सकती है, केवल उसमें जीवन [illegible] होगी। वैसे आधुनिक समय में मोम की ऐसी मूर्तियाँ भी बनती हैं जो [illegible] हैं और हिलती-डुलती भी हैं, रेडियो के द्वारा बोल भी सकती हैं। ऐसा चित्र में [illegible] सकता। इतनी यथार्थता चित्र में नही उत्पन्न की जा सकती। [illegible] रहे। यद्यपि इसको उत्पन्न करने के लिए उनका प्रयत्न हमेशा जारी रहा, [illegible] ही क्यों न हो। घनत्ववाद इसी प्रयास का एक नया रूप है यद्यपि [illegible] यथार्थ रूप में इसमें सफलता न मिली।

इसी प्रकार भवन-निर्माण कला में घनत्व का दर्शन होता है। [illegible] चौडाई तथा ऊँचाई होती है। सामने यदि बरामदा बना हो तो [illegible] कि वह कितना गहरा है या चौडा है। मकान देखने पर तस्वीर-सा चपटा नहीं [illegible] उसका घनत्व साफ दिखाई पडता है। सामने का बरामदा, [illegible] आगन भी देख सकते हैं। आगन के पीछे का कमरा भी दिखाई पडता [illegible] आँख मकान के सामने के भाग को देखती है तथा भीतर को भी देख सकती है [illegible] काफी गहराई तक हम देख लेते हैं। पास की चीज पास दिखाई पडती है [illegible] दूर। चित्र में भी ऐसा आभास उत्पन्न किया जा सकता है। [illegible] पर्सपेक्टिव का उपयोग चित्रकला में होना आरम्भ हुआ जिससे चित्र [illegible] पहुँचा, यद्यपि फिर भी चित्र चपटा ही रहा, केवल घनत्व का आभास मात्र [illegible]।

यही प्रयास प्राचीन भारतीय चित्रकारों ने भी किया परन्तु [illegible] पर यह प्रयास नहीं हुआ। प्राचीन अजन्ता, जैन, राजपूत तथा [illegible] कार जहाँ-जहाँ चित्र में महल, मकान इत्यादि बने दिखाई पडते हैं, [illegible] मकान का बाहरी भाग तथा भीतरी भाग दोनों दिखाई दे। [illegible] हुए हैं। एक ही चित्र में शहर की चौरदी की दीवाल [illegible] राजमहल का चबूतरा, भीतरी आगन, [illegible]

का इन्तजाम, महल के पीछे का वगीचा, दूर का दृश्य, पहाड, जंगल-झरने तथा आकाश पहाड पर विचरते पशु-पक्षी तथा जीव, आकाश मे उडते पक्षी इत्यादि सभी का चित्रण एक ही चित्र में हुआ है। इस प्रकार चित्र में घनत्व की भावना हमारे प्राचीन चित्रकार करते रहे हैं। मुगल-काल में पाश्चात्य प्रभाव के कारण चित्रो में पर्सपेक्टिव के आधार पर भी रचनाएँ हुई है।

पाश्चात्य चित्रकला में घनत्व उत्पन्न करने का प्रयास होता रहा। वीसवी शताब्दी तक आते-आते पाश्चात्य चित्रकला ने पर्सपेक्टिव के द्वारा घनत्व के प्रयास में रुचि लेना वन्द कर दिया, क्योकि इससे घनत्व का एक धोखा अवश्य होता था, लेकिन इसमें वँधकर चित्रकार अपनी स्वतत्रता खो वैठता था। खुलकर सरलता के साथ चित्र वनाना कठिन हो गया। पर्सपेक्टिव के साथ चित्र वनाना कठिन हो गया। पर्सपेक्टिव का सिद्धान्त एक गणित का प्रश्न-सा हो गया। इसी वीच तरह-तरह के प्रयोग होने लगे और नये-नये विचार चित्रकला के क्षेत्र में आने लगे। कला की परिभाषा वदली और यह धारणा स्थापित होने लगी कि चित्र हम वैसा न वनायें जैसा हम आँखो से देखते हैं, वल्कि वैसा वनायें जिसे हम जानते है। पर्सपेक्टिव के आधार पर वने दृश्य में दूर की वस्तुएँ छोटी तथा पास की वड़ी वनायी जाती हैं। यदि किसी मैदान का चित्र वनाना हो जिसमें दूर पर एक हाथी खडा हो और चित्रकार के अति निकट एक चूहा हो तो चित्र में पर्सपेक्टिव के आधार पर वने चूहे को वड़ा तथा हाथी को छोटा वनाना पडेगा। देखने में चूहा हाथी के वरावर लगेगा और हाथी चूहे के वरावर। इस प्रकार पर्सपेक्टिव के द्वारा दूरी पर अनुभव कराया जाता था। परन्तु चित्र-कला के नये सिद्धान्तो के कारण चित्रकारो ने यही उचित समझा कि जव हाथी चूहे से वडा है, इसे हम भली-भाँति जानते है, तो पर्सपेक्टिव के गुलाम होकर चूहे को वड़ा और हाथी को छोटा क्यो वनायें? जव हम जानते हैं कि रेल की पटरियाँ समानान्तर रूप से चलती हैं तो चित्र में दूर की पटरियाँ मिलती हुई क्यो वनायें? यही से पर्सपेक्टिव के उपयोग का अन्त होना आरम्भ होता है। इस समय तक भारतीय तथा पूर्वीय देशो की चित्रकला प्रचुर मात्रा में पाश्चात्य देशो को पहुँच चुकी थी और पाश्चात्य कलाकार धीरे-धीरे उससे प्रभावित हो रहे थे। पूर्वीय चित्रो में पर्सपेक्टिव का आधार न था वल्कि उसके स्थान पर राजपूत, पहाड़ी तथा अजन्ता चित्रों की भाँति एक ही चित्र में कई दृश्य दिखाने की परिपाटी का पश्चिमी कलाकारो पर काफी प्रभाव पडा। इसी भावना के आधार पर पाश्चात्य देशो में तमाम नयी आधुनिक शैलियो का जन्म हुआ जिनमें से 'घनत्ववाद' एक है।

क्यूविज्म का आरम्भ इसी से हुआ। आकृतियो को क्यूव या सिलिण्डर के रूप में गढना आरम्भ हुआ। जैसे मनुष्य के सिर को एक क्यूव समझें, गले को दूसरा, वक्षस्थल को तीसरा,

पेट को चौथा, जाँघो को पाँचवाँ, पैरो को छठा, पजो को सातवाँ और प्रत्येक वाह, हाथ तथा उँगलियो को अलग-अलग घन या सिलिण्डर समझें। इस प्रकार चित्र के रूपों में थोडी विकृति उत्पन्न कर घनत्व की भावना लायी जाने लगी। साथ ही साथ यह भी प्रयास हुआ कि आकृति या आकार का आगे तथा पीछे दोनो का रूप चित्र में एक साथ दिखाई पड़े, जैसे—सामने का मुँह, नाक इत्यादि और साथ ही साथ पीछे की चोटी, वाल, सिर में गुथे पुष्प और आभूषण भी। गहराई दिखाने के लिए पारदर्शक रूपसे अगो को वनाया जाने लगा ताकि आगे और पीछे का रूप एक साथ दिखाई पडे। रगो में घनत्व का ध्यान रखकर इस प्रकार उपयोग होने लगा कि उनसे चित्र में पास और दूर का भाव पैदा किया जा सके। इस प्रकार एक ही चित्र में कई दृश्य दिखाने की भावना घनत्व उत्पन्न करने के लिए प्रारम्भ हुई, परन्तु आगे चलकर यही भावना आधुनिक कला की अन्य शैलियो का विकास करती है, जैसे स्वप्निल-कला तथा सूक्ष्म-कला।

आज भारतवर्ष में भी इन आधुनिक शैलियो का काफी प्रचार हो गया है और उसी प्रकार क्यूविज्म का भी।

आधुनिक सूक्ष्म चित्रकला

आज ससार भर में सूक्ष्म चित्रकला का प्रचार हो गया है। वर्तमान समय का शायद ही कोई चित्रकार हो जो इस नयी चेतना से प्रभावित न हुआ हो। भारतवर्ष में करीव-करीव सभी नये चित्रकारो का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है। सूक्ष्म-चित्रकला इस सदी की एक वहुत ही प्रभावोत्पादक देन है। यह सच है कि साधारण मनुष्य इसका आनन्द लेने में असमर्थ है और इन्हें देखने पर नाक-भौं सिकोड़ता है। वात ठीक ही है। सूक्ष्म-चित्रकला से प्रभावित चित्रो की सीग-पूछ पहचानना वडा मुश्किल है, यहाँ तक कि यदि किसी चित्रकार से पूछा जाय तो वह भी उन्हें समझाने में असमर्थ सिद्ध होता है, क्योंकि वहुत से आधुनिक चित्रकार यूरोपीय 'एव्सट्रैक्ट आर्ट' (सूक्ष्म-चित्रकला) से प्रभावित होकर उसकी नकल करने लग गये हैं। न वे स्वयं वैसे चित्रो को समझते है, न समझा सकते है। वहुत हुआ तो वे जटिल भाषा में कुछ उलटे-सीधे शव्दो से समझाने की चेष्टाकर वात को और भी जटिल वना देते हैं। वात जहाँ की तहाँ रह जाती है। यही है आधुनिक सूक्ष्मवादी कला की दशा।

सूक्ष्म-चित्रकला एक रहस्यात्मक वस्तु के रूप में हमारे सम्मुख आयी है, क्योंकि जो वात समझ में नही आती वह या तो पागलपन है या उसमें कोई रहस्य है। यही कारण है कि सूक्ष्मकला के प्रति लोगो की ऐसी आशकाएँ है। पागलपन भी हो सकता है, और ससार के सभी चित्रकार धीरे-धीरे इसी पागलपन के शिकार होते जा रहे हैं — भारत ऐसे पिछडे देश के भी चित्रकार। जैसे पागलपन की एक आँधी आ गयी हो, पर समझ में नही आता कि इस आँधी का प्रभाव चित्रकारो पर ही क्यो पड रहा है? वैसे साहित्य में भी इसका प्रभाव है, पर उतना नही। यह भी एक रहस्य है। क्या आपने इस पर कभी विचार किया है? कीजिए।

यह विज्ञान का युग है। विज्ञान का प्रभाव हमारे आज के जीवन में पग-पग पर दृष्टि-गोचर हो रहा है। विज्ञान की देन से हम सभी लाभ उठा रहे हैं और हानि भी। एक ओर विज्ञान ने हमें रेलगाड़ी, टेलीफोन, वेतार का तार, रेडियो, मोटर, हवाई जहाज, और

सृष्टिकारी शैली



पहाड का पहरेदार

ऐसी तमाम सुविधाएँ प्रदान की, यहाँ तक कि हम ऐटमिक शक्ति से चाँद और तारो में भी भ्रमण कर सकेंगे और घर बना सकेंगे। हमारे लिए घर, कपडा, खाना तथा अनेक सुविधाएँ इस शक्ति से प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो सकेंगी। हमें सुख और शान्ति मिल सकेगी। परन्तु साथ ही साथ विज्ञान के शाप भी हमारे ऊपर है, ऐटम बम, हाइड्रोजन बम, इत्यादि। जैसे हर वस्तु के दो पक्ष होते है, वैसे ही विज्ञान के भी है।

विज्ञान का प्रभाव चित्रकला के क्षेत्र में भी कुछ कम नही पडा है। चित्रकला अपनी गति से प्रगति करती जा रही थी और यथार्थ चित्रण की चरम सीमा पर पहुँच रही थी कि एकाएक विज्ञान ने कैमरे का आविष्कार सामने रखा। चित्रकला का लक्ष्य था अति यथार्थ-चित्रण और कैमरे ने इस लक्ष्य का एक प्रकार से अन्त कर दिया। कैमरे के द्वारा बढिया से बढिया यथार्थ चित्र तैयार होने लगे। जिस प्रकार कपड़ा बनाने की मशीन बन जाने से जुलाहे का काम छिन गया, उसी प्रकार से कैमरा बन जाने से चित्रकारो का काम छिन गया और ऐसा सारे संसार में हुआ जहाँ-जहाँ कैमरा पहुँचा। इस सदी के चित्रकार एक प्रकार से बेकार हो गये, बेरोजगार हो गये। उनका जीना मुश्किल हो गया। जो कुछ अभी तक उन्होने सीखा था उसका अब कोई उपयोग नही रह गया। जो काम इतने वर्षों में उन्होंने सीखा था वह कैमरा एक क्षण में कर सकता है। चित्रकार जो समाज में उपयोगी व्यक्ति था, अब समाज के लिए एक प्रश्न बन गया। ससार भर में चित्रकार की दुर्दशा हुई। चित्रकार चित्र बनाते और उनका मूल्य देनेवाला कोई नही मिलता। चित्रकार भूखो मरने लगे, समाज ने उनसे लाभ उठाना छोड दिया और उनके सामने अब कोई रास्ता नजर नही आता। बहुत से चित्रकार कैमरा खरीदकर 'फोटोग्राफर' हो गये और बहुत से व्यावसायिक चित्रकलाका कार्य करने लगे, क्योकि जीवन का साधन उन्हें खोजना ही था। फिर भी कुछ ऐसे भी चित्रकार थे जिन्होने भूखे रहना स्वीकार किया, परन्तु अपना कार्य नही छोटा और अब उनकी चित्रकला समाज के लिए न होकर स्वात सुखाय होने लगी। चित्रकार अपने लिए चित्र बनाने लगा क्योकि इसमें उसे आनन्द मिलता था, वह अपनी मुसीबतो, दुख-दर्द को भुला सकता था। यही पर चित्रकला समाजवाद से हटकर व्यक्तिवाद की ओर झुकती प्रतीत होती है।

जब कला या कोई कार्य व्यक्तिवादी होता है तब मनुष्य जो कुछ करता है वह अपने इच्छानुसार करता है और जिसे वह स्वय उचित समझता है वही करता है। आज का कलाकार यही कर रहा है। जब प्रत्येक चित्रकार को व्यक्तिगत स्वतत्रता प्राप्त हो गयी तो यह भी सच है कि प्रत्येक चित्रकार एक ही तरह के विचारो पर आधारित चित्र नही बना सकता और यही से चित्रकला में प्रयोगवाद आरम्भ होता है। प्रत्येक चित्रकार अपनी-अपनी

इच्छा के अनुसार नये-नये तरीकों से, नये-नये रगो से चित्र बनाना आरम्भ करता है और अनेको प्रकार के 'वाद' चित्रकला के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे लोककला, क्यूबिज्म, सूरियलिज्म, फाविज्म, पाइन्टलिज्म, ऐब्सट्रैक्टशनिज्म, इत्यादि अनेको शैलियो का प्रादुर्भाव हुआ और होता जा रहा है।

सूक्ष्म-चित्रकला इन प्रयासो का एक अति काल्पनिक तथा प्रगति-सूचक रूप है और आज इसका प्रभाव ससार के सभी आधुनिक चित्रकारो पर दिखाई पड़ रहा है, जैसा हमनें पहले देखा है कि कैमरे के आविष्कार की वजह से यथार्थ-चित्रण की प्रगति बिलकुल रुक गयी और उसके स्थान पर व्यक्तिगत प्रयोगो का प्रादुर्भाव हुआ। अनेको नयी-नयी शैलियाँ सामने आयी जिनका रूप कार्यवश यथार्थ रूप से हटकर अति काल्पनिक होता चला गया और सूक्ष्म-कला इसी का एक अति-काल्पनिक नमूना है। कैमरा यथार्थ चित्र बना सकता है, किन्तु है तो वह मशीन ही। उसमें मस्तिष्क नही है, उसमें हृदय नही है, उसमें विचार और कल्पना नहीं है। जिस प्रकार एक ओर उसके द्वारा यथार्थ चित्र बन सकता है उसी प्रकार दूसरी ओर भाव, उद्वेग, विचार और कल्पना की उसमें कमी है जो कैमरे के बस का नही। यही जो कैमरे के वश में नहीं है वह मनुष्य के लिए बाकी बच रहा, और आधुनिक चित्रकार भाव, उद्वेग, विचार और कल्पना के आधार पर अपनी प्रगति करने लगा। उसी के परिणाम-स्वरूप सूक्ष्म-चित्रकला का प्रादुर्भाव होना सम्भव हुआ। जिसमें कल्पना का बाहुल्य है। चित्रकला अब यथार्थ न होकर काल्पनिक चित्रण की ओर अग्रसर हो रही है। अब आधुनिक चित्र में विषय नही होता, कहानी नही होती, इतिहास के चरित्र नही होते, यहाँ तक कि कोई ऐसी चीज नहीं होती जिसको हमने पहले कभी देखा हो या पहचान सकें, क्योकि आज की कला कल्पना पर आधारित है, और कल्पना मनुष्य की वह शक्ति है जिसके आधार पर नये संसार की सृष्टि हो सकती है। यही कल्पना मनुष्य, जानवर और मशीन में भेद कराती है। यही कारण है कि मनुष्य इस शक्ति को प्राप्त कर ससार के ऊपर राज्य कर रहा है। मशीन और जानवर दोनो उसके गुलाम है। कल्पना के आधार पर ही हमारी प्रगति हुई है और आगे भी होगी। चित्रकार यह बात अच्छी तरह जानता है और इसीलिए काल्पनिक चित्रकला या सूक्ष्म-चित्रकला का इतना प्रसार हुआ है। अब हमारे आधुनिक चित्रो में यथार्थ चित्रण खोजना या कैमरे के चित्रो की तरह यथार्थता खोजना हमारी महान् मूर्खता है, 'हिमालयन' भूल है।

सूक्ष्म चित्रकला का लक्ष्य

इस प्रकार चित्रकार ने अपनी कला के द्वारा आँखो देखी चीजो या दृश्यों का वर्णन करना छोड़कर कला के द्वारा अपने सूक्ष्म अनुभव-जन्य सत्य का चित्रण करना आरम्भ

किया । चित्रकार अब किसी वस्तु का चित्र नही बनाता बल्कि रग, रूप, आकार तथा रेखाओ के माध्यम से वही करने का प्रयत्न करता है जो सृष्टि अपने अनेक साधनो मे करती है ।-

सृष्टि में क्या होता है—अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनती-बिगडती है, जैसे समुद्र तथा उसकी लहरे और तूफान, बहती नदियाँ, अनेक प्रकार के आकार तथा रूप-रग के जीव-जन्तु पक्षी, इत्यादि; पहाड़, आसमान, बादल, वर्षा, धूप इत्यादि । अनेको रूप हमें सृष्टि द्वारा निर्मित दिखाई पड़ते हैं । सृष्टि की इन वस्तुओ का अपना अलग-अलग रूप, आकार, रग तथा प्रकृति है । जैसे अडिग लम्बा चौडा ऊँचा पहाड़, अथाह जल का समुद्र, कलकल करती गतिमान् नदियाँ, उमडते-घुमडते बादल, अनन्त शान्त नील आकाश, हरे-भरे वृक्ष तथा लताएँ, खूँखार शेर चीता-से जानवर, सुन्दर चहचहानेवाले पक्षी तथा अनेको अन्य वस्तुएँ प्रकृति में पायी जाती हैं, जिनका भिन्न-भिन्न रूप, रग, आकार तथा प्रकृति है । पत्थर में कडापन, जल में प्रवाह, बादलो की उडान, सूर्य की किरणें, हवा के झोंके, सभी में अपनी-अपनी एक विशेषता तथा गति है । पानी बहता है, हवा चलती है, धूप लगती है, आग जलती है । सब वस्तुएँ अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार काम करती हैं और इनके निर्माण के सिद्धान्त हैं, जैसे धुँआँ ऊपर जाता है, पानी गहराई की ओर बहता है, आग रोशनी देती है । धुँआँ पानी की तरह बह नही सकता, पानी आग की तरह रोशनी नही दे सकता, आग बह नही सकती । सभी अपने-अपने सिद्धान्त पर, प्रकृति पर चलते हैं । सभी की गति निश्चित है, सभी का रूप निश्चित है, अर्थात् सृष्टि की प्रत्येक वस्तु नियमित है । फूल पत्थर की तरह कडा नही होता, लोहा रुई की तरह मुलायम नहीं होता । सबका अपना अलग-अलग रूप है ।

कलाकार सृष्टि के इस रहस्यात्मक सत्य को स्वीकार करता है और निरन्तर इसे अपनी कला के द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न करता है । वह प्रकृति की प्रत्येक वस्तु को एकाग्रता के साथ निहारता है और उसके रूप, रंग, आकार तथा उसकी प्रकृति को समझने का प्रयत्न करता है । वह चाहता है अपने चित्रो में इन्ही प्राकृतिक सिद्धान्तो के द्वारा रचना करे । वह प्रकृति के रूपो की नकल नही करना चाहता, बल्कि जिन सिद्धान्तो पर प्रकृति रचना करती है उन्ही के आधार पर वह अपनी मौलिक रचना करना चाहता है ।

इसका यह अर्थ नही कि कलाकार ईश्वर बनना चाहता है । वह भी एक रचयिता है और चाहता है कि ऐसी रचना करे जो सत्य के आधार पर हो । आखिर चित्रकार अपने कागज या कैनवस पर एक दूसरी जीती-जागती दुनिया तो नही बना सकता जैसी कि हमारी दुनिया है, न वह ऐसा करने का दम भरता है । वह तो केवल इतना ही चाहता है कि अपने

छोटे से कागज या कैनवस पर वह जो भी रचना करे वह सत्य के सिद्धान्त पर निर्मित हो, जिस प्रकार सृष्टि में वस्तुएँ निर्मित होती हैं। प्रश्न हो सकता है कि आखिर सृष्टि का क्या सिद्धान्त है? प्रश्न मुश्किल है, चित्रकार भी इसी की खोज में है और निरन्तर लगा है। जो जितना खोज पाता है, उसी के आधार पर रचना करता जाता है। फिर भी सृष्टि के वारे में इतना तो सभी मानते हैं कि वह एक निश्चित सिद्धान्त पर स्थित है। सृष्टि के रूप तथा कार्यों में एक निश्चित एकता, सतुलन, छन्दोमयता, नियम-वद्धता, सौम्यता, सम्वन्धता, जीवन, तथा गति दृष्टिगोचर होती है। यही कलाकार अपने चित्रो में उत्पन्न करना चाहता है और इसी रहस्य को समझकर अपनी रचना को अधिक से अधिक अमूल्य वनाना चाहता है। सच कहिए तो चित्र वनाना भी उसके लिए इतना महत्त्व नही रखता जितना वह इन रहस्यो को जानकर अपने जीवन को ऊँचा उठाना चाहता है। फिर भी चित्र उसके वहुत महत्त्वपूर्ण हैं क्योकि चित्र कलाकार का प्रतिरूप है। उसने जो जीवन पाया उसकी एक झलक है जिसे देखकर उसके रहस्य को समझकर समाज के अन्य व्यक्ति उसी प्रकार अपने जीवन को भी ऊँचा उठाने का प्रयत्न कर सकते है। कला का सदा यही कार्य रहा है और आज की कला भी यही कर रही है।

आधुनिक चित्रों को समझना

आधुनिक सूक्ष्मवादी चित्र इस समय साधारण रूप में पहेली-से जान पडते है। यह तो समझ में आ सकता है कि आधुनिक चित्रकार वहुत ही ऊँचे भावो से प्रभावित होकर चित्र-रचना कर रहे है और जो कुछ वे कर रहे है उचित मार्ग पर है, परन्तु उनके चित्रो में साधारण मनुष्य को या अधिकतर लोगो को कोई आनन्द नही आता। यह आधुनिक चित्र केवल विभिन्न प्रकार के रूप उपस्थित करते है। चित्रो के इतने विविध रूप पहले देखने को नही मिलते थे। अनेको प्रकार की शैलियाँ देखने को मिलती हैं, परन्तु इसके अतिरिक्त उसमें प्रत्यक्ष कोई लाभ या आनन्द दृष्टिगोचर नही होता। इससे तो साधारण मनुष्य केवल इतना ही समझ पाता है कि आधुनिक चित्रकला की विशेषता यही है कि उसमें सूक्ष्म रूपो की विविधता वहुतायत से पायी जाती है, तथा अजीव-अजीव तरह के रूपो, रग-रेखाओ का सयोजन मिलता है। इसके अतिरिक्त और कुछ उसकी समझ में नही आता। विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म, विचित्र रूप, रंग दर्शक के मन में कौतूहल पैदा करते हैं, जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं, पर उत्तर कुछ भी नही मिलता—न चित्र उत्तर देता है, न चित्रकार। परिणाम यह होता है कि दर्शक का कौतूहल तथा जिज्ञासा कुछ समय वाद, उत्तर न मिलने पर इन चित्रो को एक रहस्य समझने लगती है। रहस्य का अर्थ ही है जो समझ में न आये। साधारण मनुष्य जव रहस्य को समझ नहीं पाता तो ऊवकर उसकी ओर दृष्टि दौडाना ही छोड

देता है और धीरे-धीरे उसका कौतूहल और जिज्ञासा दोनो ही नष्ट होने लग जाते हैं। उसको धीरे-धीरे अभेद्य रहस्य से अरुचि हो जाती है और वह उस तरफ ध्यान देना बन्द कर देता है।

आधुनिक सूक्ष्मवादी चित्र ऐसे ही जटिल हैं। उनमें बुद्धि जरा भी काम नहीं देती। सूक्ष्म चित्रो के पहले जो चित्र हम देखते थे, वे समझ में आते थे, उनका आनन्द सरलता से मिल जाता था या थोडा प्रयास करने पर प्राप्त हो जाता था। उनको समझने का एक तरीका था। पर आधुनिक सूक्ष्म चित्रो को समझने में वे सब पुराने तरीके बेकार हैं। उनसे जरा भी काम नही चलता। लाख बुद्धि लगाने पर, पुराने तरीको को इस्तेमाल करने पर जिनसे आसानी से हम चित्रो का आनन्द ले लेते थे, आज हम बिलकुल असमर्थ प्रतीत होते है, एक तरह से कहिए कि आधुनिक सूक्ष्म चित्रो के रूप में चित्रकला में एक महान् परिवर्तन हो गया है। सारे पुराने मापदण्ड झूठे पड़ गये हैं। सारा पुराना ज्ञान बेकार हो गया है। उस ज्ञान के सहारे आधुनिक चित्रो की तह में पहुँचना एक टेढी खीर हो गयी है। यही कारण है कि हमारे पुराने कलामर्मज्ञ भी मौन है और वह आधुनिक चित्रो को समझने में हमारी जरा भी सहायता नही कर रहे हैं।

ये पुराने कला-मर्मज्ञ चुप हैं। जल्दी कुछ बोलते नही, हाँ अकेले में उनसे बात की जाय और श्रद्धा के साथ तो वे अपनी असमर्थता साबित करने के बजाय कहते हैं कि यह आधुनिक चित्र कलाकारो का एक पागलपन है—इसमें है कुछ भी नही, न यह अधिक दिन तक चल सकेगा। परन्तु अभी तो सूक्ष्मवाद का प्रचार बढता ही जा रहा है। दर्शक उससे आतंकित हैं, कला-मर्मज्ञ भयभीत है, यह एक बड़ी विकट परिस्थिति है। प्रतिष्ठित कला-मर्मज्ञ, जो हमारी आँख थे, आज बेकार साबित हो रहे हैं—हमारी कोई सहायता नही कर रहे हैं। एक ओर आधुनिक सूक्ष्म चित्रकला फैलती जा रही है, दूसरी ओर हमारी आँख, प्रतिष्ठित कला-पारखी तथा मर्मज्ञ बेकार होते जा रहे हैं। दर्शक निस्सहाय हो गये है। इसका फल यह है कि दर्शक अपनी पुरानी आँख अर्थात् कला-मर्मज्ञो तथा कला-पारखियो से सहारा लेना छोडकर अपनी निजी आँख का इस्तेमाल करने पर बाध्य है, यद्यपि उनसे उन्हें अभी कोई अधिक लाभ नही। फिर भी अपने-अपने अनुभव, विचार, बुद्धि, कल्पना तथा अध्ययन के बल पर वे धीरे-धीरे सूक्ष्म चित्रकला के प्रति अपनी धारणा बना रहे हैं। यह भी एक महान् परिवर्तन है। कम से कम आधुनिक कला इनमें तो सफल हुई है कि उसके द्वारा समाज का व्यक्ति अपनी आंखो को वापस पा रहा है। अपनी बुद्धि का प्रयोग करने के लिए बाध्य है। उसे अपनी ही आँख पर भरोसा करने का अभ्यास करना पड़ रहा हैं। चित्रो को समझने के लिए दर्शक दूसरो की आँखो पर अवलम्बित होना अब छोड़ रहा है। स्वतत्र हो रहा है।

यह बात भी समझ में नही आती कि यदि यह सूक्ष्म रहस्यवादी चित्रकला ऐसी है जि न कला-मर्मज्ञ समझ पाते है न साधारण दर्शक, तो इसका धीरे-धीरे इतना प्रचार कैसे होत जा रहा है और इस क्रान्ति से ससार भर के चित्रकार कैसे प्रभावित होते जा रहे है इस कला-क्रान्ति को न दर्शक समझता है, न कला-पारखी, पर चित्रकार इससे बहुत प्रभावि है और धीरे-धीरे होता जा रहा है—इसका कारण क्या है,? इसका तो अर्थ यह हुआ वि आधुनिक कला को न तो दर्शक समझ पाते है न कला-पारखी—केवल चित्रकार ही इ समझता है—तभी तो उससे प्रभावित है। अच्छा हो इसका अर्थ चित्रकार से ही समझ जाय।

भारतवर्ष में अधिकतर चित्रकार वे है जो चित्र तो बना सकते है, परन्तु उसको समझा नही सकते। अर्थात् वे शब्दो के उपयोग से चित्र में पदार्पण करने में असमर्थ है। या यो कहिए, वे ऐसा करना अपना धर्म नही समझते—गलत समझते है। सच तो यही है कि हमारे चित्रकार इतने शिक्षित नही कि चित्रो पर बोल सकें, या यूँ समझिए, कि चित्र-कला भी एक भाषा है, और यही भाषा चित्रकार जानता है। वह इसी के द्वारा बोलता है, अपने भावो विचारो को प्रकट करता है। उसे जबान से बोलने की क्या आवश्यकता? यदि वह जबान से भली-भाँति अपने विचारो को प्रकट कर सकता तो वह साहित्यकार न हो जाता? वह तो कलाकार है—कला की भाषा में बोलता है। जबान क्यो हिलाये? अब आप ही सोचिए। एक महान् क्रान्ति कला के क्षेत्र में हो रही है, यह तो सभी को प्रकट है। सारे पुराने तौर-तरीके बदल रहे है। पुराने सिद्धान्त बेकार हो रहे है। कला अति सूक्ष्म तथा जटिल हो गयी है। साधारण दर्शक के लिए कला-पारखी उसे समझा नहीं पाते। हमारे कलाकार बोलना नही चाहते। अब दर्शक क्या करे? कैसे समझे? कैसे आधुनिक चित्रो का आनन्द ले? बड़ी विकट परिस्थिति है। यही नही, किसी आधुनिक चित्रकार से पूछिए कि अमुक आधुनिक चित्रकार कैसा चित्र बनाता है या उसकी कला कैसी है तो वह तुरन्त कहेगा—बिलकुल बेकार, उसे कुछ नही आता। इसी प्रकार उस अमुक चित्रकार से इनके बारे में पूछिए तो वह भी इन्हें बेवकूफ साबित करेगा। अर्थात् एक चित्रकार दूसरे के चित्रो को भी समझने में असमर्थ है और न समझा ही सकता है। दर्शक की मुसीबत और भी बढ़ गयी।

कुल का तात्पर्य यह हुआ कि दर्शक को आधुनिक चित्र का यदि आनन्द लेना है तो वह अपनी आँख से देखे और अपनी बुद्धि का उपयोग करे, किसी के द्वारा समझना बेकार है। चित्रो को स्वयं देखे और स्वयं समझे। हाँ, यदि चित्र का बनानेवाला चित्रकार भी उपस्थित हो तो उसकी भी राय उसके चित्रो के बारे में ले। या उसने कभी कुछ लिखा

बोला हो तो उससे भी समझें। इसका यह तात्पर्य नही कि जो वह कहे उसे बिलकुल मान लें बल्कि इसी प्रकार अनेकों चित्रकारो के चित्र देखे, उनसे बातचीत करे, उनकी पुस्तकें पढे और तब निर्णय करे कि आधुनिक चित्रो में क्या है। यही एक तरीका है आधुनिक चित्रो को समझने का।

अन्तर-राष्ट्रीय प्रवृत्ति

भारतवर्ष और यूरोपीय देशों में हजारों मील का अन्तर है। यूरोपवालो ने भारत पर आक्रमण किया। डेढ-दो सौ वर्ष तक भारत परतन्त्रता की वेडियो में जकडा रहा। परतन्त्रता कला की मृत्यु है। इन डेढ़-दो सौ वर्षो के अन्दर भारत की आत्मा कुचली गयी। कला का ह्रास हुआ। इस समय में ही भारतीयो ने फिर एक वार स्वतन्त्र होने की चेष्टा की और सफलता भी मिली, परन्तु ऐसे समय में कला में विकास खोजना अनधिकार चेष्टा करना है। जिस समय यूरोप अपने विकास के पथ पर निरन्तर अग्रसर हो रहा था, उस समय भारत अपनी जजीरो से मुक्ति पाने के लिए व्याकुल हो रहा था, तरस रहा था। इन डेढ-दो सौ वर्षो में यूरोप विज्ञान की चरम सीमा पर आरूढ हुआ। भारत अज्ञान में भटकता रहा। विज्ञान के आधार पर यूरोप में मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ और भारतवासियो का मनोवैज्ञानिक पतन होता गया। यूरोप में ऐटम वम का आविष्कार हुआ, महायुद्ध हुआ और शोले भारत में गिरे। झुलस गया यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति। ये है हमारे उद्गार, यूरोप के प्रति और क्रोध आता है जब यूरोपीय विद्वान् भारत की तुलना अपने से करते हैं। अपने को हम क्या कोसें, शिथिल हुए, पिंजड़े से अभी-अभी निकले, पक्षी को।

इन डेढ़-दो सौ वर्षो में भारत में जो भी कला दिखाई पड़ती है, उसका कोई व्यवस्थित और परिमार्जित रूप नही मिलता। दो मुख्य धाराएँ आपस में होड़ लगाती हुई अवश्य दृष्टिगोचर होती है—वे है, परम्परागत कला तथा यूरोपीय यथार्थवादी कला। इन दोनो में यहाँ कशमकश रही है। अभी न तो यहाँ पूरी तरह से परम्परागत कला का विकास हुआ है, न यूरोपीय यथार्थवादी कला का। इस समय भारत की कला एक चौराहे पर है, और उलझन-सी सावित हो रही है। आज भी कही-कही पर कलाकार परम्परा के साथ सम्वन्ध स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। दूसरी ओर कुछ आधुनिक चित्रकार यूरोप के सम्पर्क में आकर आधुनिक यूरोप की नयी शैलियो के कुछ स्वतन्त्र तथा मौलिक अध्ययन और खोज में लगे [illegible]

भावपूर्ण घनत्ववादी चित्र



घोर चिन्ता



यूरोप में प्राकृतिक अनुकरण के बाद वैज्ञानिक युग आरम्भ होता है और आभामिक आन्दोलन तथा उत्तर-आभामिक आन्दोलन पिकासो तक आकर विकसित होकर कुम्हलाने लगा है और नये वैज्ञानिक युग के साथ-साथ एक नयी चेतना के साथ वहाँ आत्म-अभिव्यजनात्मक आन्दोलन प्रारम्भ हो चुका है। यूरोप में इस समय अधिकतर चित्रकार इस आन्दोलन से प्रभावित हैं, इसी आधार पर नयी कला का निर्माण हो रहा है। इस आन्दोलन के प्रधान नेता पिकासो, सलवाडर डाली, हैनरी मूर, तथा हिलेयर हिलर हैं। यह आन्दोलन यूरोप, अमेरिका के सभी देशो और प्रदेशो में काफी वेग से फैल चुका है। यह आन्दोलन फ्रास से आरम्भ होता है। यहाँ इस आन्दोलन के परिचालक वान गाग, गौगियाँ, मातिस, और रूसो मुख्य हैं। अमेरिका में मरीन, हैनरी एव वैन्गो, वैबर तथा अलब्राइट मुख्य आत्म-अभिव्यजनात्मक चित्रकार हैं। स्पेन में सलवाडर डाली तथा इगलैण्ड में हेनरी मूर विख्यात हैं।

भारत में भी इस आन्दोलन में भाग लेनेवाले बहुत से चित्रकार उल्लेखनीय हैं जैसे—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गगेन्द्रनाथ ठाकुर, यामिनी राय, अमृत शेर गिल, जार्ज कीट, कल्याण सेन, वैन्द्रे, शैलेज मुकर्जी, सुभो ठाकुर, मनिषी डे, सुधीर खास्तगीर, दिवाकस चावदा, बीजू भाई भगत, प्राणनाथ मागो, रवी देव तथा राचम्रु इत्यादि।

आत्म-अभिव्यजनात्मक कला का यह आन्दोलन भारत में यूरोप से आया हुआ प्रतीत होता है और इसकी भारतीय कला-आलोचक कटु आलोचना करते हैं। पर ऐसे आलोचक अधिकतर वे हैं जिन्होंने इस प्रकार के आन्दोलन का महत्त्व ही अभी नही समझा है। यूरोप का यह आन्दोलन एक ऐसा आन्दोलन है जो भविष्य में शायद यूरोप की भौतिकवादिता का लोप कर देगा और उसे (स्पिरिचुअलिजम) आत्म-ज्ञान या अध्यात्म के पथ पर अग्रसर करेगा। यही आत्मज्ञान या अध्यात्म और भौतिकवाद ही यूरोप और एशिया के एक दूसरे से दूर होने का कारण रहा है। भारतवर्ष आत्मज्ञान तथा अध्यात्म मे सदैव से विश्वास करता आया है, और आज भी करता है। यदि सदियो के भूले आज अनजाने जीवन के सही पथ पर आरूढ होने के लिए आन्दोलन करते हैं तो वे स्वागत के योग्य हैं। यूरोप में यह आत्म-अभिव्यजनात्मक चित्रकला का जो आन्दोलन फैल रहा है शायद इसका महत्त्व वहाँ के लोगो ने भी अभी नही समझा है। पिछले भयानक महायुद्धो के बाद यूरोपवासी, भौतिकता से, जिसमें वे सबके आगे थे, घबडा गये हैं और ऐसी अवस्था में आत्म-चिन्तन, आत्म-ज्ञान या अध्यात्म ही मनुष्य को सही रास्ते पर फिर ला सकता है।

आत्म-अभिव्यजनात्मक चित्रकला का सम्बन्ध हृदय से है। मनुष्य की मनोवृत्ति, उद्वेग और मनोवेग से है। जिस कला का सम्बन्ध हृदय से या आत्मा से होता है, वही कला

सर्वग्राह्य होती है और कल्याणकारी होती है। आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकला के द्वारा चित्रकार अपने हृदय के उद्गार अपने चित्रो में रखता है। वह अपने हृदय की आत्मा की पुकार अपने चित्रो में सुनता है। उसे यह मालूम होता है कि उसकी आत्मा क्या कहती है, क्या चाहती है। उसे आत्म-दर्शन होता है। जो इसे भली-भाँति जानते हैं वे सदैव कल्याण-कारी कार्यो में ही रत होते हैं और जीवन को आनन्दमय मानते हैं। जब मनुष्य अधिक भौति-कता या सासारिकता में फँस जाता है तब उसे आत्मा की आवाज नही सुनाई पडती। उसका कार्य अटपटा होता है। पिछले महायुद्ध की दर्दनाक आवाजो ने यूरोपीय भौतिकवादी मनुष्यो का हृदय द्रवित कर दिया। ऐसे समय हृदय की आवाज तेज हो जाती है, और उसका बहुत प्रभाव मनुष्य पर पडता है, वह अपने होश में आ जाता है। अपनी स्थिति का ध्यान उसे होता है। वह समझने लगता है कि उसकी असलियत क्या है। यूरोप में ऐसी स्थिति महायुद्ध के कारण आयी और उसका फल आत्म-अभिव्यजनात्मक कला के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

भारतवर्ष में सदियों से आत्मा और हृदय की आवाज में विश्वास रहा है। हमारे शास्त्र,, पुराण और उपदेशो में आत्मा का या हृदय का स्थान सबसे ऊँचा रहा है। "रसात्मकं वाक्यं काव्यम्" या "वियोगी होगा पहिला कवि" इसके दृष्टान्त हैं।

भारतवर्ष की चित्रकला सदैव से आदर्शवादी रही है। यहाँ की कला में यथार्थता भी है, पर यूरोप की यथार्थता की भाँति नही। यूरोप में इस प्रकार के यथार्थवादी कलाकारो की सदैव यह चेष्टा रही है कि वे बिलकुल वैसा ही चित्रण करे जैसा वे वस्तुओं को आँख से प्रकृति में देखते हैं। इंगलैण्ड का विख्यात चित्रकार कान्सटेबुल इसी मत का था। उन्नी-सवी शताब्दी भर यूरोप में इसी आधार पर यथार्थ चित्रो का निर्माण हुआ। परन्तु इस सदी के खत्म होने से पहले ही वहाँ आभासिक चित्रकला (इम्प्रेशनिज्म) का प्रादुर्भाव आरम्भ हो गया। यूरोपीय कला-आलोचक हर्बर्ट रीड का कहना है—"चित्रकला प्रकृति की नकल न होकर एक (ट्रिक) चमत्कार हो गयी जिसके द्वारा प्रकृति की वस्तुओ को आभा-सित किया जाता था ताकि चित्र को देखकर प्रकृति का धोखा हो।" हम कह सकते हैं के यूरोपीय चित्रकारो ने धोखे में विश्वास करना आरम्भ किया और अपने चित्रो द्वारा प्रपने समाज को भी धोखा दिया और सिखाया, स्वयं तो धोखे में पड़े ही और धोखा खाया ी। परिणाम यह हुआ कि धोखा अधिक दिन तक नही चल सका और सचाई की खोज ारम्भ हुई। आत्म-अभिव्यंजनात्मक चित्रकला का प्रादुर्भाव हुआ।

ऐसा धोखा भारतवासियो ने अपनी कला के इतिहास में कभी नही खाया। हाँ, अग्रेजी ाधिपत्य के समय की कला इस धोखे का शिकार जरूर हो रही थी। भारतीय संस्कृति अति

प्राचीन है। यहाँ धोखे और सचाई का निर्णय सदियों पहले हो चुका है। फिर धोखा खाने का प्रश्न ही नही उठता। धोखा तो वह समाज खाता है जिनका इतिहास नया हो या जिनकी संस्कृति का कोई आधार न हो। संस्कृति, परम्परा और इतिहास मनुष्य को इसी प्रकार के धोखे से बचाते हैं। जो सस्कृति प्राचीन होती है उसके आदर्श भी निश्चित हो जाते हैं, और ऐसा ही समाज आदर्शवादी समाज कहलाता है। आदर्श सामने रहने पर धोखा जल्दी नही होता। यूरोप में प्रधानतया इंगलैण्ड में इस प्रकार की पुरानी संस्कृति, परम्परा या इतिहास बहुत नया है और बन रहा है, इसीलिए उन्हें धोखा देने और धोखा खाने की आवश्यकता पड़ी। जो लोग आदर्शवाद को अनावश्यक समझते हैं, वे धोखा अवश्य खाते हैं। भारतवर्ष ने इस प्रकार की धोखा देनेवाली चित्रकला में कभी भी विश्वास नही किया।

यूरोप की आत्म-अभिव्यजनात्मक चित्रकला का भारत में इस समय काफी प्रचार है। उसका एक मात्र कारण यह है कि भारतवासी ऐसी कला का सदैव से आदर करते आये हैं, और इसे वे अपना ही समझते हैं। आत्म-अभिव्यजनात्मक चित्रकला-पद्धति की मुख्य विशेषता उसकी स्वतन्त्रता की भावना है। इस पद्धति में चित्रकार स्वतंत्र है अपनी रचना करने में। यूरोपीय यथार्थवादी चित्रकला में 'पर्सपेक्टिव' का ज्ञान बहुत ही आवश्यक रहा है। इस 'पर्सपेक्टिव' का प्रयोग भारतीय प्राचीन कला में बहुत कम हुआ है। इसीलिए पहले जब यूरोप ने भारतीय कला पर आलोचना की तो यही कहा कि यहाँ की कला अप-भ्रश है अर्थात् बहुत ही निम्नकोटि की है। ऐसा उस समय उन्हें कहने का अधिकार था। परन्तु आज आधुनिक चित्रकारो में शायद ही कोई ऐसा हो जो 'पर्सपेक्टिव' का अपने चित्रो में उपयोग करता हो या उसे आवश्यक समझता हो। विश्वविख्यात चित्रकार पिकासो स्वयं इसके विरोधी हैं। अर्थात् यूरोप को आज यह ज्ञान हुआ है कि चित्र में 'पर्सपेक्टिव' से कही अधिक महत्त्व की वस्तुएँ है जिनको चित्रित करने के लिए 'पर्सपेक्टिव' ऐसे क्षुद्र ज्ञान को हमें छोडना होगा। भारत इस पर्सपेक्टिव को कभी आवश्यक नही समझता था, यद्यपि इसका कुछ उपयोग यहाँ के चित्रो में मिलता है। यूरोप में बालको की कला, इजि-प्शियन कला और नीग्रो-कला के ऊपर जब लोगो ने खोज की तो उन्हें एक नयी ही अनुभूति हुई, यहाँ से आधुनिक चित्रकार ने इसमें विश्वास करना प्रारम्भ किया कि वह आँख से जैसा देखता है वैसा चित्र नही बनायेगा वल्कि जैसा वस्तुओ के बारे में उसका अनुभव है उसके अनुसार उनका चित्र बनायेगा। मान लीजिए, हमें रेलवे लाइन का चित्रण करना है। अगर पटरी पर खडे होकर हम दूर तक लाइन की ओर दृष्टि डौडायें तो हमें दोनों पट-रियाँ दूर जाकर मिलती हुई दिखाई देंगी, यद्यपि सचमुच ऐसा नही होता। पटरियाँ सदैव समानान्तर रेखाओ के आधार पर चलती है। आभासिक या उत्तर-आभासिक चित्रकार यदि चित्रण करता तो पटरियो को ऐसा ही बनाता, परन्तु आधुनिक आत्म-अभिव्यंजनात्मक

चित्रकला में ऐसा कभी भी न होगा। चित्रकार जानता है कि पटरियाँ कभी एक दूसरे से नही मिलती, यदि ऐसा हो तो गाड़ी फौरन पटरी से नीचे आ जाय। इसलिए आधुनिक चित्रकार रेलवे लाइनो को समानान्तर ही वनायेगा।

इसी प्रकार एक चक्षु-चित्र में ही दोनो आँखो का दिखाई देना, (जैसा पिकासो के चित्रो में) सामने के पेड़ और दूर के पेड़ को एक ही नाप का वनाना, यद्यपि दूर का पेड छोटा दिखाई पड़ना चाहिए—एक ही रूप में कई मुद्राएँ दिखाना, चीजो को पारदर्शक करके आमने-सामने दोनो तरफ का दृश्य एक साथ दिखाना, एक ही चित्र में कई चित्र वनाना इत्यादि आधुनिक आत्म-अभिव्यजनात्मक कला में वहुतायत से दृष्टिगोचर होता है। ये सभी वातें स्वाभाविक चित्रण के प्रतिकूल हैं, क्योकि यहाँ चित्रकार प्रकृति को उस प्रकार चित्रित नही कर रहा है जैसा वह देखता है वल्कि स्वतत्रता के साथ वह इन रूपो के द्वारा आत्म-प्रकाशन का कार्य कर रहा है। उपर्युक्त सभी वातें पिकासो के चित्रो तथा आधुनिक यूरोपीय चित्रों में दिखाई पड़ती हैं और अक्षरश ये सभी वातें प्राचीन भारतीय जैन-कला तथा अन्य शैलियो में दिखाई पडती हैं। अगर यह कहा जाय कि आधुनिक यूरोपीय कला शायद अनजाने में भारतीयता के निकट आ रही है तो मिथ्या न होगा। जिसने प्राचीन भारतीय चित्रकला पर भली-भाँति अध्ययन किया है वह इस वात से तुरन्त सहमत होगा।

इस प्रकार यूरोपीय तथा भारतीय चित्रकला में साम्य दिखाई पड़ता है, फिर भी साधारण मनुष्य को तो उनमें कोई भी समानता नजर न आयेगी। यह एक अध्ययन करने योग्य विपय है और आधुनिक नव-चित्रकार को इस कार्य में रुचि लेनी चाहिए। अध्ययन करने पर ज्ञात होगा कि अति प्राचीन जैन चित्र और आधुनिक पिकासो-चित्र में वहुत कम अन्तर है या हम इस प्रकार कह सकते है कि आधुनिक यूरोपीय चित्रकला अभी तो केवल अपना स्वाभाविक विकास मात्र ही कर रही है और यह भारतीय चित्रकला सदियो पहले कर चुकी है। जो रास्ता चित्रकला के विकास में जैन-चित्रकला ने या भारतीय चित्रकला ने सदियो पहले पार किया है, इस समय आधुनिक यूरोपीय चित्रकला उसी को पार करने का प्रयत्न कर रही है। ऐसा भी हो सकता है कि और अध्ययन के वाद आधुनिक यूरोपीय चित्रकला भारतीय चित्रकला के और समीप पहुँच जाय। पहले यूरोपीय चित्रकला में रगो के अच्छे सम्मिश्रण पर वहुत ध्यान दिया जाता था, पर आधुनिक यूरोपीय चित्रकला में शुद्ध रगो का ही प्रयोग होने लगा है जैसा राजपूत या जैन-चित्रकला में होता था। जैसे थ्री डाइमेंशन, त्रिभग रूप के स्थान पर चपटे रग और आकार जैसा कि प्राचीन भारतीय चित्रो में, लय, छन्द, गति, सन्तुलन इत्यादि संगीत के गुणो का चित्र में सामजस्य होता था उसी प्रकार आधुनिक यूरोपीय चित्रकला भी एक डिजाइन-सी प्रतीत होती है।

यदि आधुनिक यूरोपीय चित्रकला की इस प्रवृत्ति को हम भली-भाँति समझ लें तो हमें निश्चय ही उसका आदर करना चाहिए। इस समय सारा समाज एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनाना चाहता है और इस आधुनिक युग में एक देश दूसरे देश से अलग होकर रह भी नही सकता, तब चित्र-कला की भी एक अन्तरराष्ट्रीय भाषा होनी चाहिए। यूरोप अनजाने में या जानकर इस ओर कदम बढा रहा है। हमारा भी कर्त्तव्य है कि हम इस कार्य में सहयोग दें। आधुनिक यूरोप सभी देशो, समयो की चित्रकला का अध्ययन भली-भाँति कर रहा है। आधुनिक यूरोपीय कला में इजिप्शियन कला, नीग्रो-कला, चीन-जापान की कला, भारत की कला, प्रागैतिहासिक कला, बालको की कला इत्यादि का सामजस्य होता जा रहा है। यही तरीका है एक अन्तराष्ट्रीय भाषा बनाने का। यही तरीका भारतीय कला का भी होना चाहिए।

आधुनिक भारतीय नव युवक चित्रकार को यूरोप की आधुनिक चित्रकला तथा प्राचीन भारतीय चित्रकला पद्धति का अध्ययन कर और देशो की भाँति भारत की कला को प्रगति के पथ पर अग्रसर करना चाहिए।

आध्यात्मिक प्रवृत्ति

इस सत्य से इनकार नही किया जा सकता कि भारतवर्ष, जहाँ तक साहित्य, कला और सगीत का प्रश्न है, अन्य देशो से कभी भी पीछे नही रहा । यह वात सभी सुलझे हुए विचारक एक मत से स्वीकार करते है । सच पूछिए तो ज्ञान का पहला दिया भारतवर्ष में ही जलाया गया । ऐसी स्थिति में हमारे हृदय को तव धक्का लगता है जव कोई लेखक विना सोचे-विचारे भारत को किसी अन्य देश के, विशेषतया पश्चिम के, पीछे चलनेवाला घोषित कर वैठता है, वह चाहे साहित्य के क्षेत्र में हो या कला के । 'यह वात आधुनिक चित्रकला तथा चित्रकारो के प्रति एक 'कन्फ्यूजन' इगित करती है । इस ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट करना नितान्त आवश्यक जान पड़ता है ।

कला-आलोचक भारतीय आधुनिक चित्रकला पर केन्द्रित न होकर ससार भर की आधुनिक कला पर दृष्टिपात करते है, परन्तु वे अपना ही मत सामने रखकर तथा अपना ही मापदड सामने रखकर संसार भर की आधुनिक चित्रकला का मूलाधार प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते है । यह प्रयास उनके आत्म-विश्वास को व्यक्त करता है, परन्तु उनकी रचनाओ में कही भी नही मालूम पड़ता है कि वे संसार भर की आधुनिक कलापर दृष्टि रखकर मूलाधार निश्चय करते हो । उन्हें चाहिए कि ससार-भर के कला-मर्मज्ञो, कलाकारो के विचारो का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए अपना दृष्टिकोण भी सामने रखें जिसमें उनकी वात समझ में आये । लेकिन वे आधुनिक चित्रकला को अपना समझकर निश्चयात्मक ढग से मनचाही वातें कहते है ।

वे यह मानते है कि भारतीय चित्रकला पाश्चात्य आधुनिक चित्रकला से अति प्रभावित हो रही है और भारतीय आधुनिकता एक प्रकार से पाश्चात्य की नकल है तो भी 'मूलाधार' खोजते समय वे यह ध्यान में नही लाते कि पाश्चात्य विचारो को भी दृष्टि में रखें । आधुनिक भारतीय चित्रकला का मूलाधार पश्चिम में है, यह वात उनके वक्तव्यों से साफ व्यक्त होती है, पर फिर भी वे पाश्चात्य विचारो पर दृष्टि नही डालते जव कि आधुनिक चित्रकला पर पश्चिम से सैकडो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है और सैकडो कलाकारो के चित्रो के अलवम

बाजार में बिखरे पडे हैं। आलोचको को चाहिए कि पाश्चात्य विचारो को भी प्रस्तुत करते हुए अपना दृष्टिकोण सामने रखें।

यह बडे खेद का विषय है कि यद्यपि पश्चिम में आधुनिक कला-मर्मज्ञ आज सचाई के साथ यह मानने को तैयार हैं कि आधुनिक कला का प्रेरणासूत्र भारतीय तथा अन्य पूर्वीय कला है, परन्तु हमारे नये कला-समीक्षक अब भी पश्चिम को ही कला-गुरु मानने को कटिबद्ध हैं। विद्वान् पाश्चात्य आधुनिक कला-आलोचक श्री शेल्डन चेनी की धारणा उनके ही मुख से उनकी विख्यात पुस्तक "एक्सप्रेशनिज्म इन आर्ट" से सुनिए, जो १९४८ ई० में प्रकाशित हुई है—

"आत्म अभिव्यजनात्मक कला (एक्सप्रेशनिज्म) के प्रादुर्भाव के ही साथ पश्चिम ने पूर्व की उत्तम अलकरण सिद्धि को मान्यता देना आरम्भ किया, चाहे वह चीन की गहराई वाले चित्र हो या फारसी, हिन्दू या जापानी कला।" पोस्ट इम्प्रेशनिज्म तथा फाविज्म के इतिहासकार इस बात को भुला सकते हैं कि सन् १८७० तथा १९०० के बीच इन पर पूर्वीय प्रभाव कितना पडा। बहुत-सी पूर्वीय निधियाँ जो यहाँ आयी वही एक्सप्रेशनिज्म शैली का प्रारम्भिक प्रेरणासूत्र है जो बडी सरलता से खोजा जा सकता है। फ्रासीसी कलाकार पाल गोगाँ के बारे में जिससे आधुनिक कला एक निश्चित धरातल पर पहुँचती है और जो पूर्वीय कला से प्रेरणा लेता था, लिखते हुए शेल्डन चेनी कहते हैं —

"और इसमें कोई लाभ नही कि आधुनिक कला का प्रेरणा-सूत्र इधर-उधर खोजा जाय। गोगाँ की कला पूर्वीय कला के साथ है।"

"पूर्वीय कला में पाश्चात्य विचारो के आक्रमण से पहले कला का मूल तत्त्व ही सूक्ष्म स्वरूपो का मूल्याकन था। बाइजनटाइन कला का प्रभाव जब पश्चिमी कला पर सरलता से पड रहा था तो पश्चिमी कला इन मूल्याकनो से समृद्धशाली हो रही थी और उसका रूप सियानीज, गिग्रटो तथा अन्य मूर्तिकारो की कला में दर्शनीय है। लेकिन रिनेसाँ के प्रारम्भ होते ही, यूरोप ने पूर्व से नाता तोड दिया। पश्चिमी कलाकारो ने बाह्य आडम्बर को ही महत्त्व देना आरम्भ किया जिसका सिलसिला इम्प्रेशनिज्म तक रहा। यथार्थवाद के आधिपत्य के समय सूक्ष्म आदर्शों का एक प्रकार से अन्त हो गया। 'एक्सप्रेशनिज्म' ने पुन रचनात्मक तत्त्व का आदर्श पश्चिम में आरम्भ हो गया है। आज पुन पूर्वी प्रभाव का आगमन हो गया है और उसका असर पड रहा है क्योंकि हमने पूर्वी देशो से आत्मीयता जोडना आरम्भ कर दिया है।" इसी प्रकार अन्य पाश्चात्य विद्वान् भी आज किसी न किसी रूप में भारतवर्ष तथा अन्य पूर्वीय देशो की कला को ही आधुनिक कला का मूलस्रोत मानते हैं।

शेल्डन चेनी ने अपनी विस्तृत पुस्तक में हेनरी रूसो के चित्रो का उदाहरण देते हुए खासकर 'द ड्रीम' को कई वार कहा है कि रूसो की ही चित्रकला पूरी तौर से आधुनिक कही जा सकती है। 'द ड्रीम' शीर्षक चित्र विलकुल भारतीय राजस्थानी चित्र से मिलता जुलता है, और इसी प्रकार उसके अन्य चित्र भी।

एक जगह शेल्डन चेनी ने स्वीकार किया है कि "इसमें जरा भी शक नही कि जिस कलातत्त्व को पूर्वीय कलाकार प्राप्त कर चुके थे वही प्राप्त करने के लिए हम अव अभिव्यजनात्मक स्वरूपो की ओर दौड रहे हैं।"

"प्रत्येक साहित्यकार, कवि या लेखक अपनी अनुभूतियो को, 'विशिष्ट अनुभूतियो को' अपनी रचना के माध्यम से व्यक्त करने के लिए स्वच्छन्दता चाहता है। उसी प्रकार आज का चित्रकार अपनी 'विशिष्ट अनुभूति' अपनी रुचि या अपनी धारणा तथा सन्देश स्वच्छन्दता के साथ व्यक्त करने को उद्यत है। पहले वह समकालीन साहित्य, धार्मिक प्रचलन तथा राजकीय रुचियो का आधार लेकर चित्रण करता था। आज वह इस वन्धन से मुक्त होकर अपनी व्यक्तिगत अनुभूति को, जिसे उसने अपने जीवन तथा समाज के साहचर्य से प्राप्त किया है, व्यक्त करने के लिए स्वच्छन्द होने के लिए क्राति कर रहा है। यही कारण है जो आधुनिक चित्रकला में विचित्र शैलियाँ, टेकनिक तथा अभिव्यक्तियाँ सामने आ रही हैं। यही आधुनिक कला की विपेशता है। चित्रकार आज अपनी विशिष्ट रुचि के आधार पर नये रूप, रग तथा आकार प्रदर्शित करने के लिए प्रयत्नशील है।" यही वात आधुनिक कला-आलोचक अपने ढंग से स्थापित करते है, परन्तु इसी को वे आगे चलकर काट देते है और कन्फ्यूजन को स्थान देते है।

वे कलाकार की विशिष्ट अभिव्यक्ति के प्रयास को प्रयोगवाद का मूलाधार मानते हैं जिसमें वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रधानता देते है और कहते है "वैज्ञानिक प्रभाव के कारण सघटन तथा विघटन को कला में स्थान प्राप्त हुआ। जिन वस्तुओ को हम सदा ही एक आवयविक अखडता में परिकल्पित करते आये उनको नयी चित्रकला ने खडित करके नये आवयविक सघटन की नीव डाली।" यही पर वे अपने कन्फ्यूजन को इंगित करते हुए कहते हैं—"कहना न होगा कि इस दिशा में वहुत-सा सृजन ऐसा भी हुआ है और हो रहा है जो स्वय सार्थकता-शून्य ही नही वरन् 'एक वहुत वडे कन्फ्यूजन' का परिचायक भी है।" सचमुच यहाँ पहुँचते-पहुँचते वे स्वयं कन्फ्यूज्ड (सभ्रमित) से मालूम पडने लगते है और उनके पास कुछ कहने को नही रह जाता। तव वे 'पश्चिमी आधुनिक चित्रकला की विकास रेखा' नापने लग जाते है।

कुछ आलोचक एरिक न्यूटन की धारणा से सहमत होते हुए स्वीकार करते हैं कि भावी चित्रकला की प्रवृत्ति इन तत्त्वों की खोज की ओर होगी जो अबतक अर्जित उनके प्रयोगों तथा शैलियों की शक्ति को अपने में स्थापित करके अधिक स्थायी रूप दे सकें। यहाँ वे पुन अपनी बात-वैयक्तिक स्वतन्त्रता को काटते हैं। आधुनिक कला के बारे में एरिक न्यूटन के विचार स्वय भी कन्फ्यूज्ड से हैं। एरिक न्यूटन ने पूर्वीय कला को भी बुरी तरह चित्रित किया है। अपनी पुस्तक 'यूरोपियन पेंटिंग और मूर्ति-कला' में पूर्वीय तथा पश्चिमी कला पर विचार करते हुए उन्होंने पूर्वीय कला को जडता की संज्ञा प्रदान की है और पाश्चात्य कला को व्यापक तथा प्रगतिशील कहकर पूर्वीय कला को निम्न श्रेणी का घोषित करने का कष्ट किया है। उन्होंने कहा है—"सारी पूर्वीय कला अपनी निर्जीवता तथा निष्क्रियता से मुझे बिलकुल बेजान बना देती है। यह आवश्यकता से अधिक सुन्दर है, परन्तु मानवता से हीन है।" ऐसे विचारोंवाले व्यक्ति के आधार पर यदि हम कला का मूलाधार निश्चित करे तो कहाँ तक न्याय होगा ?

अधिकतर आलोचक यह साबित करने का प्रयत्न करते हैं कि वैयक्तिक आत्म-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता ही आधुनिक कला का मूलाधार है। आधुनिक कलाकार के 'विशिष्ट अनुभव' को मान्यता देते हुए वे भारतीय रस-सिद्धान्त की दोहाई भी देते हैं और अन्त में इनके बिलकुल विपरीत वे कला को लोकोन्मुखी होने का आदेश देते हैं। वे बडी ही सरलता से अपना कन्फ्यूजन स्वीकार करते हैं। यह नही पता चलता कि वे वैयक्तिक आत्म-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की ओर हैं या लोकोन्मुख ? ये विचार परस्पर-विरोधात्मक हैं।

आधुनिक कला को इस प्रकार कन्फ्यूज्ड (भ्रामक) तरीके से पाठक के सामने रखना आधुनिक कला के प्रति अन्याय करना है और खतरे से खाली नही।

इस प्रकार तो आधुनिक चित्रकला का मूलाधार बिलकुल भ्रम-मूलक बन जाता है, और इस बात का पता ही नही चलता कि आधुनिक कला का दार्शनिक धरातल क्या है तथा आधुनिक कला क्यो और किस ओर जा रही है।

आधुनिक चित्रकला का रूप यथार्थ चित्रण का बिलकुल विपरीत रूप है, यह तो साफ दृष्टिगोचर होता है। कला ने यह रास्ता क्यो अपनाया इसका सामाजिक मूलाधार तो यही है कि उन्नीसवी शताब्दी में ही फोटो कैमरा तथा आगे चलकर फिल्म कैमरा सिनेमा के रूप में इस प्रकार आया कि यथार्थ चित्रण का लक्ष्य ही इस आविष्कार ने पूर्ण कर दिया। जिस प्रकार कपडा बुनने की मशीन बनने से साथ ही जुलाहों का काम खत्म हो गया, उसी प्रकार कैमरा के साथ यथार्थ चित्रण का। यहीं से कला के क्षेत्र में कल्पना के आधार पर

सूक्ष्म स्वरूपो का चित्रण एक नयी क्राति के रूप में आधुनिक कला का मूलाधार वनकर ससार भर में व्याप्त हो गया। यह कार्य कैमरे के वूते के वाहर है। इतना ही नही, चित्रकार यही से वहिर्मुख होने के वजाय अन्तर्मुख होता है और मनोविज्ञान के आधार पर सुरियलिज्म तथा एक्सप्रेशिनज्म के रूप में आधुनिक कला आगे वढती है और भारतीय आध्यात्मिक प्रवृत्ति की ओर झुकाव आरम्भ होता है जिसे किसी न किसी रूप में सभी पाश्चात्य कलाकार, कला-मर्मज्ञ तथा विद्वान् मानने लगे है। कुछ दृष्टान्त आपके सम्मुख प्रस्तुत हैं और अनेको उपस्थित किये जा सकते है।

शेल्डन चेनी—"एक्सप्रेशिनस्ट का कार्य यही है कि वह रूप सघटन के द्वारा पूर्ण सत्य, सर्वव्यापी सामजस्य और आध्यात्मिक एकता की चेतना को जाग्रत करे।" इस प्रकार कला एक जीवन-दर्शन तथा आध्यात्मिक उच्च जीवन का स्रोत वन जाती है। कलाकार जैसे-जैसे अपनी रचनात्मक शक्ति को पहचानता है, अपने को सारे ससार में व्याप्त होते देखता है और यह अनुभव करता है कि वह स्वय दैवीय शक्ति की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है तो वह यही स्थिति मानकर अपनी रचनात्मक शक्ति द्वारा नियति के सौन्दर्य तथा नियम के आधार पर मानवीय विकास को आगे वढाता है।

हर्वर्ट रीड—"हमें अव यह निश्चय समझ लेना है कि अव हमारा कार्य यूरोप में चित्र-कला का विकास नही है, न कोई ऐसा विकास करना है जिसके समान इतिहास में कभी न हुआ हो वल्कि सारी परम्परा तथा मान्यताओ को तोडकर कि कला का रूप कैसा हो यह वात समझनी है कि अव हमें वाह्य सासारिक स्वरूपो को त्यागना है। कलाकार अपनी चेतना को अन्तर्मुखी करता है जहाँ उसे मानसिक तथा काल्पनिक चेतना का वोध होता है जैसे स्वप्न में।"

हाफमैन—"रचनात्मक कला आध्यात्मिक है और मुक्ति का अनुभव प्राप्त कराती है।"

कैन्डिंस्की—"कलाकार में एक अद्भुत रहस्यमय दृष्टि होती है। कला आध्यात्मिक जीवन से सम्वन्ध रखती है। जो भविष्य की आत्मा से सम्वन्धित है वह केवल अनुभूति से प्राप्त हो सकता है और इस अनुभूति का रास्ता कलाकार का कौशल है।"

पिकासो—"जव मैं कार्य करता हूँ तो मुझे जरा भी पता नही चलता कि मैं कैनवस पर क्या चित्रित कर रहा हूँ। जव-जव मै चित्र वनाने लगता हूँ, मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो मै अपने को एक महान् अधकार में खो रहा हूँ।"

आइन्सटाइन—"मनुष्य की सवसे तीव्र इच्छा जो उसे कला तथा विज्ञान की ओर खीचती है यह है कि वह सासारिक जीवन से किस प्रकार मुक्त हो।"

ये सभी विचार भारतीय अध्यात्मवाद के परिचायक हैं और यही सत्य यहाँ के जन-जन की अनुभूति में व्याप्त है।

महात्मा अरविन्द ने कला का कार्य समझाते हुए अपनी पुस्तक 'द सिग्नीफिकेन्स ऑफ इण्डियन आर्ट' में बड़े ही सरल शब्दों में कहा है "कला का सर्वोच्च ध्येय यही है कि वह अनन्त तथा दैवीय आत्मा की आत्मानुभूति प्रदान करे, आत्माभिव्यंजना करे। अनन्त को जीवित प्रतीकों से व्यंजित करे तथा दैवीय को अपनी शक्ति से प्रकाशित करे।" यही सर्वदा भारतीय कला का प्रेरणासूत्र तथा मूलाधार रहा है और इसी ओर पाश्चात्य कला का ध्यान आकर्षित हुआ है। हमारी आधुनिक कला का मूलाधार सात समुद्र पार नहीं है बल्कि इसी मिट्टी में है। वैसे कभी भी किसी देश की कला प्रभाव-मुक्त नहीं रही।

अन्तिम बात

कला अपने समय तथा समाज का और उसकी प्रगति का प्रतिबिम्ब होती है । हर प्राचीन कला तथा आधुनिक कला का यही रूप तथा रुख हुआ करता है, चाहे उसका रूप कैसा भी हो । रूप ससार की विधि के अनुसार सभी वस्तुओ का बदलता रहता है । रूप एक प्रकार से केवल अभिव्यक्ति का माध्यम है । माध्यम कभी एक-सा सभी का नही होता । इसी माध्यम को हम कला की दृष्टि से शैली कह सकते हैं । शैलियाँ प्राचीन काल में भी अनेक थी और आज भी है । शैली का तात्पर्य होता है उन विलक्षण प्रतीको से जिनके द्वारा कलाकार अभिव्यक्ति करता है । जैसा मैंने पहले कहा, अभिव्यक्ति मनुष्य अपने समाज के तौर-तरीको, भावनाओं तथा विचारो की करता है और सभी कलाकार यही करते है, अन्तर है शैली का । अभिव्यक्ति का रूप तो करीव-करीव एक समय तथा समाज में एक-सा होता है, पर उसे व्यक्त करने के लिए अनेको कलाकार विभिन्न शैलियो का प्रयोग करते हैं । इसीलिए आधुनिक कला के रसास्वादन के लिए शैली की विशेषता का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है और आधुनिक कला का आनन्द भी इसी में है । अभिव्यक्ति तो एक प्रकार से गौण-सी होती है क्योकि एक ही वात की सभी कलाकार अभिव्यक्ति करते हैं, यद्यपि अभिव्यक्ति भी कला का एक आवश्यक अग है । इतना ही नही, जाने-अनजाने अभिव्यक्ति होती रहती है चाहे कलाकार उसपर ध्यान दे या न दे ।

आधुनिक कला में अभिव्यक्ति से महत्त्वपूर्ण शैली है । शैली की विचित्रता, नवीनता तथा सुन्दरता ही आज की कला का मुख्य आकर्षण है और यह बात साफ दृष्टिगोचर होती है । जिस किसी ने आधुनिक चित्रो को देखा है वह उसकी शैली की विचित्रता से अवश्य ही प्रभावित हुआ होगा चाहे उसकी समझ में वे चित्र न आये हो और इसीलिए उन्हें देखकर उसे कुछ घवराहट भी हुई हो और वह आधुनिक कला का आलोचक वन गया हो । वहुत से व्यक्ति जो साहित्यिक दृष्टिकोण से आधुनिक कला में पदार्पण करते हैं, इस महत्त्व को नही समझ पाते और न इस कला का आनन्द ही ले पाते हैं । यदि वे स्वय भी कलाकार हुए तो आधुनिक कला की छीछालेदर करते है, वन्दरो की तरह इसकी नकल कर । साहित्यिक कला में भाव खोजता है जैसा वह कविता में करता है और वस आधुनिक कला का दरवाजा

उसके लिए बन्द हो जाता है। चित्रकला और कविता यद्यपि एक दूसरी से आज बहुत समीप प्रतीत होती हैं, पर उनमें आज भी मौलिक भेद हैं, उसे समझ लेना बहुत आवश्यक है।

सगीत, काव्य तथा चित्रकला, ये तीनो ललित-कलाएँ है, पर तीनो मे अन्तर है, यद्यपि तीनो हृदय के गुणो से प्रभावित होती है और मस्तिष्क तक पहुँचती है। सगीत का आनन्द उसे सुनने में है, कविता का आनन्द उसे समझने में है, चित्रकला का आनन्द उसे देखने मे है। सुनने, और समझने में अन्तर है। सगीत का आनन्द उसे मिल ही नही सकता जिसके कान ठीक नही, कविता का आनन्द वह ले ही नही सकता जिसका मस्तिष्क स्वस्थ नहीं, उसी भाँति आँखो के गुणो से जो पूर्ण नही वह चित्रकला का पूरा आनन्द नही पा सकता। अक्सर देखा गया है कि सगीतज्ञ चित्रकला का आनन्द नही ले पाते और उसी प्रकार कवि भी। इसका कारण यही है कि सगीतज्ञ तथा कवि को चित्रकला का आनन्द लेनेवाली आँखें प्राप्त नही या उसने अपनी इस शक्ति को परिमार्जित नही किया। सगीतज्ञ चित्रो में स्वर नही सुन पाता और कवि उसमें भाव नही खोज पाता तो आधुनिक चित्रकला से जूझने लग जाता है। वह यह मानने को तैयार नही कि सगीत की भाँति स्वर और कविता की भाँति भाव चित्रकला में नही होते और इसीलिए ये तीन कलाएँ हैं, यद्यपि ध्येय सबका आनन्द प्रदान करना है। साहित्यकार या कवि समझता है कि वह सबसे बडा कलाकार है क्योकि वह भावो को समझ सकता है, भाव उत्पन्न कर सकता है, और कला में भाव ही सबसे ऊँची चीज है, अत सगीत और चित्रकला कविता के आगे मामूली चीजें है। इसमें कविता की भाँति भाव या विचार नही होते। बहुत से कवि जो चित्र-रचना भी करते है, अपने को बहुत भाग्यशाली समझते है और साधारण चित्रकारो या सगीतकारो से अपने को अच्छा समझते है क्योकि उनके चित्र बडे भावपूर्ण होते है। चित्रकार और सगीतज्ञ की दृष्टि में ऐसे चित्र या सगीत का कोई महत्त्व नही जो कविता का अनुवाद हो। स्वर की परख जिसमें नही, सुन्दर दृष्टि जिसमें नही वह सगीतज्ञ तथा चित्रकार तो है ही नही और न वह सगीत या चित्र का कभी आनन्द ही ले सकता है। आधुनिक समय में लोग सगीत तथा चित्रकला को इसी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करते हैं, जैसे कविता को, पर यह भूल है।

आधुनिक चित्रकला साहित्यिक दृष्टि से समझी नहीं जा सकती बल्कि देखकर ही उसका आनन्द लिया जा सकता है।

मुझे यहाँ एक छोटी-सी कहानी याद आ जाती है जिससे यह बात और अच्छी तरह प्रतिपादित होती है। एक बार करीब-सात आठ सौ वर्ष पूर्व एक ईरानी राजदूत भारत-वर्ष में आया। उसे बादशाह का हुक्म था कि भारतवर्ष से वहाँ की अद्भुत चीजें साथ ले

आये। लौटते समय अनेक अद्‌भुत वस्तुओ के साथ उसने यह भी आवश्यक समझा कि यहाँ का अद्‌भुत फल आम भी ले आये। दस ऊँट आम वह अपने साथ ले गया। उस समय हवाई जहाज भी न थे, न रेफ्रिजरेटर। ईरान पहुँचने के पहले ही बोरो में आम सड़ चुके थे। राजदूत को इसका पता न था। दरवार जाते समय उसने अपने कर्मचारी को आज्ञा दी कि वह एक सुन्दर चाँदी के थाल में दस वीस वड़े-वड़े आम सुन्दर रूमाल से ढक राज दरवार में ले आये। दरवार खचाखच भरा हुआ था। बडी शान से राजदूत ने तश्तरी वादशाह के सामने वढ़ायी कि वह उसकी नकावपोशी करे। वादशाह ने ज्योही रूमाल उठाया, सडे-गले आम मँहक उठे। वादशाह के क्रोध का ठिकाना न रहा। उसने डाँटकर राजदूत से पूछा "क्या वदतमीजी है ?" राजदूत ने जव तश्तरी पर नज़र डाली तो उसके होश फाख्ता हो गये। वेचारे को काटो तो खून नही। पर वह एक विख्यात कवि भी था और हाज़िर-जवाव भी। उसने वादशाह से इस गलती के लिए माफी माँगी और वोला "हुजूर यह भारत वर्ष का सवसे उम्दा फल आम है। मुझे दु ख है कि ये रास्ते में ही सड गये, पर यह वहाँ की एक अद्‌भुत नियामत है। हुक्म हो तो इसका वर्णन करूँ ?" वादशाह की अनुमति पाकर उसने कहना आरम्भ किया "हुजूर यह वह फल है जो मीठा और खट्टा दोनो ही होता है और यह चूस कर खाया जाता है। मान लीजिए मेरी इस सफेद दाढी को शहद तथा नमक से लपेट दिया जाय और इसे आप चूसें तो आम का पूरा मज़ा आपको मालूम हो सकेगा।" वादशाह वहुत हँसा और राजदूत को उसके कवित्व पर माफ कर दिया। पर ज़रा सोचें, क्या वादशाह को सचमुच आम का आनन्द प्राप्त हुआ होगा ? यही है अन्तर देखने और शब्दो में वर्णन करने का। देखना और है, सुनना और, समझना और। आधुनिक कला देखने की वस्तु है। उसका वर्णन करना तो वैसा ही होगा जैसा आम का वर्णन। मैं आधुनिक कला का वर्णन नही करना चाहता, केवल यही यहाँ कहूँगा कि आधुनिक कला का आनन्द लेने में उसे किस दृष्टिकोण से देखना होगा।

आधुनिक कला में शैली की विविधता विशेष है। साहित्यिक वन्धु या कवि कहेंगे, तव तो आधुनिक कला का कोई महत्त्व नही, उसमें भाव-पक्ष है ही नही। लेकिन कला में शैली का अर्थ है रूप, रग, आकार तथा रेखाओ का विलक्षण सयोजन। सयोजन के भी सिद्धान्त हैं जिनमें एकता, सुमेल, सन्तुलन, लय, गति इत्यादि गुणो के द्वारा नाना प्रकार के रसो की उत्पत्ति होती है तथा भावो की अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक रग, रूप, आकार तथा रेखा-भावो को व्यक्त करती है, रस का संचार करती है। कविता की भाँति उसमें भाव समझना नही होता, खोजना नही पडता, वल्कि रगो, रेखाओ तथा आकारों के विलक्षण सयोजन से ही अपने आप दर्शक के मन पर उनका सीधा प्रभाव पड़ता है। सोचने-समझने की आव-

श्यकता नही पड़ती, जिस प्रकार प्रकृति का रूप देखने पर। बम्बई में मैरीन ड्राइव के सामने खड़े होकर विशाल जल-राशि पर नज़र डालें, मसूरी में खडे होकर हिमालय की ओर दृष्टि करे, हवाई जहाज से सुन्दर वन का निरीक्षण करे या सहारा मरुस्थल पर दृष्टिपात करे तो क्या प्रकृति की इस विलक्षणता का आनन्द लेने के लिए आप को कुछ बुद्धि लगानी पडती है या शब्दकोष खोजना पडता है ? देखते ही समुद्र की गहराई, हिमालय की ऊँचाई, सुन्दर वन का घना-पन और सहारा का सूखापन आपकी आँखो को भर लेता है। एक पल भी नही लगता। प्रकृति की यही कलाकृतियाँ मनुष्य के चित्रो से कम महत्त्वपूर्ण है जो आप उसका आनन्द इतनी आसानी से ले लेते है और आधुनिक कागज़ पर बने या कैनवस पर अंकित आधुनिक चित्रो का आनन्द लेने के लिए आपको उसको समझने की आवश्यकता पड़ जाती है ? और उसे देखकर आप कहते है "मेरी समझ में नही आता आधुनिक चित्र" क्या आप आधुनिक चित्रो को प्रकृति के चित्रो से अलग समझते है ? क्या आप अपने को तथा चित्रकार को प्रकृति के बाहर समझते है ? यही है हमारी भूल। जिस प्रकार हम केवल देखकर हिमालय, कल-कल करती पहाडी नदियाँ, हरे-भरे घने वन, उमडते-घुमडते विशाल जल-राशिवाले समुद्रो का आनन्द सहसा ले लेते है उसी प्रकार केवल देख कर हमें आधुनिक चित्रो का आनन्द ले लेना चाहिए। जिस प्रकार प्राकृतिक विलक्षण रूपो को देखकर हममें मानसिक तथा हार्दिक प्रतिक्रिया होती है और हम कविता लिख डालते है उसी प्रकार इन आधुनिक विलक्षण चित्रो के रूप देखकर हमें आनन्द लेना चाहिए और इसमें शक नही कि वे भी हार्दिक तथा मानसिक आन्दोलन हममें उत्पन्न करते है। उनकी भी उसी प्रकार प्रतिक्रिया होती है। कविता देखी नही जा सकती, उसमें उपयुक्त शब्दो का अर्थ समझना आवश्यक है, पर प्रकृति तथा चित्र में हमें केवल देखकर भी आनन्द मिल जाता है। हाँ, प्रत्येक व्यक्ति पर प्रतिक्रिया अलग-अलग पड सकती है। गहरे समुद्र को देखकर कोई उसमें कूदने का आनन्द ले सकता है, कोई उससे डर सकता है और कोई उसकी गहराई को अपनी भावनाओ की गहराई की सीढी बना सकता है। हिमालय को देखकर कोई अपनी क्षुद्रता का अनुभव कर सकता है, पर कोई हिमालय की भाँति ऊँचा बनने की कल्पना कर सकता है। यह तो उसकी मानसिक अवस्था पर निर्भर करता है। इसी प्रकार आधुनिक चित्र केवल एक विलक्षण रूप उपस्थित करते है। उनकी भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया लोगो पर हो सकती है, भिन्न-भिन्न भाव उठ सकते है। चित्र अपनी जगह रहता है, जैसे हिमालय। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक चित्र केवल कलाकार के मस्तिष्क तथा हृदय में उपजे विलक्षण रूप ही है जिनको देखा जा सकता है और अपनी-अपनी मानसिक अवस्था के अनुसार आनन्द लिया जा सकता है।

अब यह सवाल उठता है कि इस प्रकार के विलक्षण रूप तो एक बच्चा भी बना सकता है, एक धूर्त्त भी बना सकता है उसका तथा एक ऊँचे कलाकार का भेद कैसे मालूम हो ?

यह सवाल तो वैसा ही है जैसे कोई पूछे कि हिमालय और विध्याचल की पहाडी में क्या अन्तर, समुद्र और तालाब में क्या अन्तर या जमीन और आसमान में क्या अन्तर ? इसका तो कोई जवाब नही अगर समुद्र और तालाब को देखकर हम अपने-आप उसका अन्तर नही समझ सकते। हाँ, एक बात और भी हो सकती है कि सभी आधुनिक चित्र अभी तालाब की ही सीमा में हो, उनमें समुद्र की विशालता ही न हो तो दर्शक कैसे आसानी से उसका फर्क जान सकता है ? यह बात सही भी हो सकती है, क्योकि आधुनिक कला नयी है, अभी इसके कलाकारो में तालाब तथा समुद्र का अन्तर न उत्पन्न हुआ हो, पर आधुनिक चित्रो मे कौन ऊँचा है यह दर्शक की दृष्टि पर निर्भर करता है और दर्शक की दृष्टि को कैसे दोप दिया जा सकता है, इस गणतंत्र के साम्यवादी युग में ? जनता जनार्दन है और जो वह देखती है वही सच तथा सही है। पर ऐसा भी सोचना भूल है। शेर और नकली शेर की खाल पहने गधे की पहचान हो सकती है यदि दर्शक चैतन्य हो। इसके अतिरिक्त कला के साधारण सिद्धान्तो से दर्शक को थोड़ा परिचित अवश्य होना चाहिए। रूप, रग, आकार तथा रेखाओ का चित्र में महत्त्व समझना चाहिए। कला में सयोजन के सिद्धान्त तथा उसके गुण, सुमेल, एकता, लय, छन्द, गति आदि के उपयोग से परिचित होना आवश्यक है।

आधुनिक कला चित्रकार के मन में सहसा उत्पन्न हुए स्वरूपो का प्रतीक है। इसको बुद्धि से समझा नही जाता, बल्कि इन्हें देखकर सहसा आनन्द लिया जाता है जैसे सूर्य की सतरगी किरणो का जल-प्रपात के धवल फुहार पर।